ॐ

परमात्मने नमः

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय, पुष्प नं.

नियमसार प्रवचन

(भाग-२)

श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत
श्री नियमसार परमागम की गाथा ३८ से ४२ पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
वीर संवत् २४७० ईसवी सन् १९४४ में हुए प्रवचन

: हिन्दी अनुवाद :

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :

श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मु बई-400 056
फोन : (022) 26130820

: सह-प्रकाशक :

श्री दिग बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250
फोन : 02846-244334

प्रथमावृत्ति गुजराती : वीर संवत् २४७२, मागसर शुक्ल १०, विक्रम संवत् २००२
ईस्वी सन् १९४६ (श्री सीमन्धर जिन प्रतिष्ठा १० वर्षीय महोत्सव)
प्रकाशक - श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट सोनगढ़, सौराष्ट्र
प्रथमावृत्ति हिन्दी : पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के 41वें समाधिदिवस की स्मृति में

प्रस्तुत प्रवचन ग्रन्थ www.vitragvani.com शास्त्र भण्डार, पूज्य गुरुदेवश्री के संकलित प्रवचन में उपलब्ध है।

ISBN No. :

न्यौछावर राशि : 20 रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,**
   सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250,
   फोन : 02846-244334
2. **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
   302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग,
   विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400056,
   फोन (022) 26130820 Email - vitragva@vsnl.com
3. **श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट (मंगलायतन)**
   अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (उ.प्र.)
   फोन : 09997996346

टाईप-सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़

ॐ

नमः श्री सद्गुरुदेवाय

प्रस्तावना

श्री नियमसार परमागम के कर्ता श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव विक्रम संवत् के शुरुआत में हो गये हैं। निर्ग्रन्थ आचार्य भगवन्तों में भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रमुख पद पर विराजमान हैं। आपश्री अत्यन्त अभ्यासशील वीतराग दर्शन के परम मर्मज्ञ, श्रुतज्ञान के महासागर और अनेक लब्धियों निवासभूत महामुनि थे। आपने त्रिलोकपूज्य भगवान महावीर से प्रवाहित मोक्षमार्ग के बीजभूत ज्ञान को परम पवित्र परमागमों में संग्रहित कर रखा और भव्य जीवों पर अपार उपकार किया है। आपश्री को भगवान महावीर का ज्ञान आचार्य परम्परा से प्राप्त हुआ था। इतना ही नहीं किन्तु आठ दिन तक महाविदेहवासी श्री सीमन्धर भगवान की दिव्यध्वनि के साक्षात् श्रवण करने का महा सौभाग्य भी आपको प्राप्त हुआ था। इस प्रकार तीर्थंकरदेवों का उपदेश प्राप्त करनेवाले भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा रचित अनेक शास्त्रों में से एक उत्तम आध्यात्मिक शास्त्र श्री नियमसार है। उसमें परम शान्तरसमय आध्यात्मिक गूढ़ भाव भरे हैं। नयाधिराज निश्चयनय का इसमें अलौकिक निरूपण है। शुद्ध जीव, व्यवहार-निश्चयचारित्र, निश्चय प्रतिक्रमण-प्रत्याख्यान-आलोचना प्रायश्चित्त परमसमाधि, शुद्ध उपयोग इत्यादि का स्वरूप इसमें सुन्दर रीति से समझाया गया है। जिससे मुमुक्षुओं का झुकाव क्षणिकभावों की ओर से छूटकर शुद्ध द्रव्यसन्मुख होकर निजानन्द में लीन हो।

इस शास्त्र की मूल गाथायें १८७ हैं। इन गाथाओं पर निर्ग्रन्थ मुनिवर श्री पद्मप्रभमलधारिदेव ने विस्तृत संस्कृत टीका रची है। टीकाकार महासमर्थ अध्यात्मरत मुनि भगवान हैं। उन्होंने टीका करते हुए अध्यात्मरस को अद्‌भुत रीति से घोंटा है; परमपारिणामिकभाव, कारणपरमात्मा इत्यादि को अति अलौकिक रीति से गाया है। टीका गद्यरूप है तथा उसमें अनेक अध्यात्मरस झरते मधुर पद्य भी है। टीकाकार मुनि भगवन्त ने मूल शास्त्रकार के आशय को अति स्पष्ट करके परम उपकार किया है।

संस्कृत टीका के आधार से इस शास्त्र का हिन्दी अनुवाद ब्रह्मचारी श्री शीतलप्रसादजी ने किया है।* मूल गाथायें, संस्कृत टीका और हिन्दी अनुवाद विक्रम संवत् १९७२ में पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ था, उस पुस्तक पर परम पूज्य अध्यात्मयोगी श्री कानजीस्वामी ने सोनगढ़ में संवत् २४७२ में प्रवचन किये थे। उन प्रवचनों में से प्रथम जीव अधिकार के (गाथा १ से १९ के) प्रवचन प्रकाशित होकर पाँच वर्ष पहले प्रसिद्ध हो गये हैं; तत्पश्चात् दूसरे अजीव अधिकार के (गाथा २० से ३७ के) प्रवचन बाकी रखकर, इस पुस्तक में तीसरे शुद्धभाव अधिकार में से पहली पाँच गाथाओं (३८ से ४२) के प्रवचन प्रसिद्ध होते हैं। परम महिमावन्त पारिणामिकभाव की भावना को इन प्रवचनों में बहुत-बहुत घोंटा है। इस पारिणामिकभाव का गहरा स्वरूप समझने के लिये यह प्रवचन अति उपयोगी है।

भारतवर्ष में अध्यात्म जागृति फैलानेवाले, स्वरूपानुभवी अध्यात्मयोगी पूज्य श्री कानजीस्वामी ने इन प्रवचनों द्वारा सूक्ष्म अध्यात्म की पराकाष्ठाभूत शुद्ध कारणपर्याय इत्यादि परम गहन आध्यात्मिक रहस्य खोलकर अध्यात्म तृषित सुपात्र जीवों पर उपकार किया है। इन प्रवचनों में परम प्रयोजनभूत शुद्धात्मदेव की महिमा पूज्य गुरुदेवश्री ने बहुत उच्च और बहुत स्पष्ट शैली से गायी है। जिसे सुगुरुगम से शास्त्रों के अर्थ हल करने की दृष्टि मिल चुकी है, ऐसे मुमुक्षुओं को तो इन प्रवचनों की स्वाध्याय और रटन करने से ऐसा ही लगेगा कि मानों स्वयं चैतन्य परमात्मा के दर्शन करने के लिये अध्यात्म की कोई गहरी-गहरी गुफा में उतर रहा हो! मुमुक्षु, इस शास्त्र का अतिशय एकाग्रता से अभ्यास कर अन्तर गुफा में विराजमान चैतन्यदेव को देखो और आत्मिक सुधारस का अनुभव करो।

रामजी माणेकचन्द दोशी

पौष पूर्णिमा २४७७

प्रमुख

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट

* तत्पश्चात् तो पूज्य गुरुदेवश्री की भावना से इस नियमसार परमागम एवं संस्कृत टीका का शब्दशः गुजराती अनुवाद पण्डित हिम्मतभाई जेठालाल शाह सोनगढ़ द्वारा किया गया।

श्री मुनिराज निस्पृह करुणाबुद्धि से कहते हैं कि अरे प्राणियों! आत्मा का शुद्धस्वभाव समझे बिना अनन्त काल में दूसे सब भाव किये है; वे कोई भाव उपादेय नहीं हैं। आत्मा का निश्चयस्वभाव ही उपादेय है, ऐसी तुम श्रद्धा करो।

इस दुर्लभ मनुष्यभव में भी यदि अपने स्वभाव को जानकर उसका आदर नहीं करे तो फिर कब ऐसा अवसर मिलनेवाला है! अपना जैसा पूरा स्वभाव है, वैसा पहिचानकर उसका ही आदर करना-श्रद्धा करना, वही इस मनुष्यपने में जीव का कर्तव्य है।

अल्प काल में जिन्हें भवरहित होना है, ऐसे निकट भव्य जीव इस शुद्ध आत्मा का आश्रय करो, इसकी पहिचान करो, उसके अनुभव का अभ्यास करो।

– नियमसार प्रवचन

अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 – ईस्वी) प्रात:काल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्लार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्राय: प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है—

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक – इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन–उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्‌भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्‌गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते–करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ।** सिंह–समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्‌भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन–प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अत: भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल '**श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर**' का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश–टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश–विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर–घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल–वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर, पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन–ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश–विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन

रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल

तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त

ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं – यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

ॐ

श्री परमात्मने नमः

नियमसार प्रवचन

(भाग-२)

श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत
श्री नियमसार परमागम की गाथा ३८ से ४२ पर
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
वीर संवत् २४७० ईसवी सन् १९४४ में हुए प्रवचन

मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमोगणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो, जैनधर्मोस्तु मंगलं॥
अज्ञान तिमिरान्धानां ज्ञानांजन शलाकया।
चक्षुरुन मीलितं येन तस्मे श्रीगुरुवे नमः॥

वीर संवत् २४७०, वैशाख कृष्ण ४, शुक्रवार, व्याख्यान नं. २२ चालू

(गाथा ३८)

श्री कुन्दकुन्दाचार्य भगवान ने रचे हुए नियमसार शास्त्र का यह तीसरा अधिकार शुरु होता है। इसका नाम 'शुद्धभाव अधिकार' है। आत्मा का त्रिकाली परमशुद्धस्वभाव, वह शुद्धभाव है, उसका इसमें वर्णन है। आत्मा के परमशुद्धस्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान और उसमें स्थिरता होने पर पर्याय में जो शुद्धभाव प्रगट होता है, वह शुद्धभाव मोक्ष का कारण है। आत्मा का त्रिकाल परमशुद्धस्वभाव है, वही उपादेय है। पुण्य और पाप, ये

दोनों विकारी भाव हैं, वे छोड़नेयोग्य हैं; वे दोनों भाव, अशुद्धभाव के भेद हैं, उनसे धर्म नहीं होता; धर्म तो आत्मा के शुद्धभाव से होता है।

अपने आत्मा का जो शुद्धस्वभाव है, वही उपादेय है, विकारभाव हेय है; अपने आत्मा के अतिरिक्त दूसरे आत्माओं का लक्ष्य भी छोड़नेयोग्य है। जड़कर्मों से और विकारी भावों से आत्मा भिन्न है। और जो निर्मल पर्याय प्रगट होती है, उस पर्याय जितना भी आत्मा नहीं है। आत्मा सदा एकरूप पूरा आत्मस्वभाव है, वही उपादेय है।

आत्मा ज्ञानस्वरूप, अरागी–अद्वेषी, शान्त है; उसके स्वभाव में कभी विकार नहीं। सब जीवों का ऐसा शुद्धस्वभाव है। धर्मी का आत्मा ऐसा है, और अज्ञानी जीव न माने तो भी उनका आत्मा ऐसा ही है। अज्ञानी जीव अपने आत्मा को विकारमय मानते हैं तो भी उनका स्वभाव तो विकार से भिन्न ही है, ऐसा ज्ञानी जानते हैं। उस त्रिकाली शुद्धस्वभाव का इस अधिकार में वर्णन है।

आत्मा का स्वभाव कर्म की उपाधि बिना का है; कर्म की अपेक्षा से जो भाव प्रगट हों, वह आत्मा का स्वभाव नहीं। इस प्रकार कर्म का लक्ष्य छोड़कर अपने शुद्धस्वभाव के आश्रय से यदि पुरुषार्थ करे तो मुक्ति प्रगट हो। यहाँ आत्मा को कर्म की उपाधि से रहित कहा है, यह बात केवली भगवान के आत्मा की ही नहीं समझना, परन्तु सभी आत्माओं का स्वभाव ऐसा ही है। यहाँ आचार्यदेव पर्याय को गौण करके त्रिकाली आत्मद्रव्य का स्वरूप समझाते हैं।

एक वस्तु में दूसरी वस्तु की नास्ति है; आत्मा में कर्म की नास्ति है। कर्म की नास्ति कहने से, कर्म की अपेक्षा से होनेवाले विकारी भावों की भी नास्ति है—ऐसा आ जाता है। यदि कर्म की अपेक्षा छोड़कर अकेले आत्मस्वभाव को देखें तो उसमें विकार का अभाव है अर्थात् की आत्मा का स्वभाव विकाररहित शुद्ध है, उस स्वभाव को समझना और उसमें लीन होना, वह धर्म है।

आत्मा सदा चैतन्यस्वरूप है, और कर्म अचेतन है। आत्मा में कर्म रहे हुए नहीं हैं; आत्मा और कर्म दोनों भिन्न चीज़ है। एक वस्तु की अस्ति में दूसरी वस्तु की अस्ति हो ही नहीं सकती। यदि एक वस्तु में दूसरी वस्तु की अस्ति हो तो दोनों वस्तुओं का

भिन्न स्वरूप ही सिद्ध नहीं हो सकेगा। आत्मा और कर्म इन दोनों वस्तुओं का स्वरूप न्यारा-न्यारा है। आत्मा के स्वरूप में कर्म की अस्ति नहीं है, कर्म आत्मा में है ही नहीं तो फिर वे आत्मा को क्या नुकसान करे?

कर्म से आत्मा भिन्न है, परन्तु 'मुझमें कर्म है, कर्म मुझे रागादि कराते हैं' ऐसा मानकर अज्ञानी जीव ही राग-द्वेष-मोहभाव करता है, वे भाव भी आत्मा के स्वरूप में नहीं हैं। यदि वे विकारी भाव आत्मा के स्वरूप में हों तो आत्मा से वे कभी पृथक् नहीं पड़ें। जीव स्वयं पर्याय में पर के आश्रय से वे भाव करता है, परन्तु आत्मा का जो शुद्धस्वभाव है, वह उनसे पृथक् है।

जीवद्रव्य स्वतन्त्र है, उसके गुण स्वतन्त्र हैं और उसकी पर्यायें भी स्वतन्त्र होती हैं। परवस्तुएँ कभी भी जीव को पराधीन नहीं करतीं। जीव अपने ही दोष से पर के आश्रय से दुःखी होता है, परन्तु अज्ञानी जीव अपने पर्याय की स्वतन्त्रता भूलकर कर्म का दोष निकालता है, वह अज्ञानभाव है। वह अज्ञानभाव क्षणिक है, आत्मा के स्वभाव में वह अज्ञानभाव नहीं है।

इस प्रकार आत्मा कर्मों से भिन्न है और कर्म के निमित्त से होनेवाले विकारी भावों से भी भिन्न है तथा कोई जीव अपने स्वभाव की पहिचान द्वारा विकार टालकर निर्मल पर्याय प्रगट करते हैं, उस निर्मल पर्याय जितना भी पूरा आत्मा नहीं है। आत्मा का स्वभाव निरपेक्ष है, वह कभी नाश नहीं पाता और वह कभी नया प्रगट नहीं होता। आत्मा का स्वभाव सदा एकरूप है, अभी भी वह एकरूप परिपूर्ण है—ऐसा जो आत्मस्वभाव है, वही शुद्धभाव है; श्री आचार्यदेव इस अधिकार में उसका वर्णन करते हैं।

गाथा ३८

अत्यन्त आसन्न भव्य जीवों को कौन तत्त्व आदरनेयोग्य है और कौन तत्त्व छोड़नेयोग्य है, यह कहते हैं :—

जीवादिबहित्तच्चं हेयमुवादेयमप्पणो अप्पा।
कम्मोपाधिसमुब्भवगुणपज्जाएहिं वदिरित्तो ।।३८।।

जीवादिबहिस्तत्त्वं हेयमुपादेयमात्मनः आत्मा।
कर्मोपाधिसमुद्भवगुणपर्यायैर्व्यतिरिक्तः ।।३८।।
हैं हेय सब बहितत्त्व ये जीवादि, आत्मा ग्राह्य है।
अरु कर्म से उत्पन्न गुणपर्याय से वह बाह्य है ॥३८॥

अर्थ—इस आत्मा को, कर्म की उपाधि से उत्पन्न हुए गुण-पर्यायों से भिन्न ऐसा अपना आत्मा ही उपादेय है, जीवादि बहिरतत्त्व हेय है।

जीव को अपना अन्तर आत्मस्वभाव ही उपादेय है, अर्थात् उसकी ही श्रद्धा करनेयोग्य है; जीवादि सात तत्त्व आत्मस्वभाव से बाह्य हैं, परद्रव्यस्वरूप है, इसलिए वे ग्रहण करनेयोग्य नहीं हैं। सात तत्त्वों के विकल्प, वह राग है, उसकी श्रद्धा करनेयोग्य नहीं है, परन्तु उससे भिन्न अपना स्वभाव है, वही श्रद्धा करनेयोग्य है।

जीव के मतिज्ञान-श्रुतज्ञान इत्यादि पर्याय को विभावगुण कहा गया है और मनुष्य, तिर्यंच आदि दशा को विभावपर्याय कहा गया है। ये दोनों भाव कर्मों की उपाधि से होते हैं, वे आत्मा का स्वभाव नहीं हैं। विभावरहित परिपूर्ण निज परमात्मस्वभाव है, उसकी श्रद्धा से ही सम्यग्दर्शन होता है। दो ही भाग पड़े हैं, एक अपना अनादि-अनन्त पारिणामिकस्वभाव, वह शुद्धभाव है और वही उपादेय है; और इसके अतिरिक्त सब तत्त्व हेय है।

टीका

'जीवादि सात तत्त्व परद्रव्य होने से उपादेय नहीं हैं; जो सहज वैराग्यरूपी महल के शिखर के शिखामणि हैं, जो परद्रव्यों से परान्मुख हैं, जो पंचेन्द्रिय के फैलाव से रहित है, जिन्हें मात्र शरीर का ही परिग्रह है, जिनकी बुद्धि स्वद्रव्य में लीन है, ऐसे परम जिनयोगीश्वरों के आत्मा को एक 'आत्मा' ही उपादेय है।

यह उपादेयस्वरूप आत्मा कैसा है, वह कहते हैं:—औदयिक आदि चार अन्य भावों से अगोचर होने से, द्रव्यकर्म-भावकर्म और नोकर्म की उपाधि से उपजे हुए विभावगुणपर्यायों से रहित है। अनादि-निधन अमूर्त अतीन्द्रियस्वभावरूप शुद्ध सहज

परमपारिणामिकभावस्वरूप कारणपरमात्मा है—ऐसा यह आत्मा है। अत्यन्त आसन्न भव्य जीवों को ऐसे निजपरमात्मा के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी उपादेय नहीं है।

इस गाथा में हेय-उपादेय तत्त्व का कथन है। अपना शुद्ध आत्मस्वभाव ही उपादेय है; जीव-अजीवादि सात तत्त्व परद्रव्यस्वरूप है, वे ग्रहण योग्य नहीं हैं।

प्रश्न—सात तत्त्वों में 'जीवतत्त्व' भी आ जाता है, तो क्या वह भी परद्रव्य है?

उत्तर—सहज ज्ञानस्वरूपी जीव तो स्वतत्त्व है, वह कहीं परद्रव्यरूप नहीं है। यहाँ जीव के शुद्धस्वभाव को परद्रव्य नहीं कहा, परन्तु 'मैं जीव हूँ' ऐसा जो मन सम्बन्धी रागमिश्रित विचार, उसे यहाँ जीवतत्त्वरूप गिनकर परद्रव्य कहा है। 'मैं जीव हूँ'—ऐसा विकल्प, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है; इसलिए वह परद्रव्य है और हेय है। आत्मतत्त्व ज्ञानस्वरूप है; 'मैं जीव हूँ', ऐसा जीव सम्बन्धी विकल्प, वह आत्मतत्त्व में नहीं है और उस विकल्प द्वारा आत्मतत्त्व अनुभव में नहीं आ सकता; इसलिए वह विकल्प हेय है। जीव स्वयं परद्रव्य नहीं, परन्तु जीवतत्त्व सम्बन्धी जो विकल्प है, वह परद्रव्य है। शुद्ध जीवतत्त्व तो उपादेय है, परन्तु 'मैं जीवतत्त्व हूँ', ऐसा विकल्प उपादेय नहीं है। इस अपेक्षा से जीवतत्त्व को हेय कहा है—ऐसा समझना।

दूसरा, अजीवतत्त्व है, वह उपादेय नहीं। जीव के अतिरिक्त दूसरे पाँच अचेतन द्रव्य हैं, वे अजीव हैं। 'मैं अजीव नहीं', ऐसा जो रागमिश्रित विकल्प है, वह परद्रव्यस्वरूप है, उस विकल्प द्वारा अजीव से भिन्न जीवतत्त्व अनुभव में नहीं आता, इसलिए वह हेय है।

तीसरा, आस्रवतत्त्व है। दयादि के शुभभाव, हिंसादि के अशुभभाव ये दोनों आस्रव हैं, वह जीव का स्वरूप नहीं। 'आस्रव मेरा स्वरूप नहीं, मैं आस्रव से भिन्न हूँ', ऐसा विकल्प तो राग है, परद्रव्यस्वरूप है; उस विकल्प में ही जिसकी बुद्धि अटकी है, वह मिथ्यादृष्टि है; उस विकल्प द्वारा आत्मा अनुभव में नहीं आ सकता; इसलिए वह विकल्प हेय है। विकल्परहित होने पर जो सहज आत्मतत्त्व का अनुभव होता है, वह सहज आत्मतत्त्व ही उपादेय है। यहाँ विकल्पमात्र को परद्रव्य गिना है। अपने शुद्धस्वभाव सम्बन्धी विकल्प करना, वह भी स्वद्रव्य का स्वभाव नहीं।

चौथा, बन्धतत्त्व है, वह उपादेय नहीं है। 'मैं कर्म से बँधा हुआ हूँ'—ऐसा

विकल्प तो हेय है और 'मैं कर्म से बँधा हुआ नहीं, अबन्ध हूँ', ऐसा रागमिश्रित विकल्प भी हेय है। अबन्धस्वभाव तो अपना स्वरूप है, परन्तु 'मैं अबन्ध हूँ' ऐसा विकल्प अपना स्वरूप नहीं है, परद्रव्य है, इसलिए हेय है।

पाँचवाँ, संवरतत्त्व है, वह भी हेय है। आत्मस्वरूप के भानपूर्वक आंशिक शुद्धता प्रगट हुई और पुण्य-पाप रुके, वह संवर है। वह संवर निर्मल पर्याय है।

प्रश्न—संवर तो निर्मल पर्याय है, तथापि उसे हेय क्यों कहा?

उत्तर—संवरतत्त्व के लक्ष्य से विकल्प होता है। संवरतत्त्व और उसके लक्ष्य से होनेवाला विकल्प, इन दोनों को एक गिनकर संवरतत्त्व को ही हेय कहा है। 'मैं संवर करूँ', ऐसा विकल्प करना, वह रागमिश्रित भाव है, उससे संवरदशा प्रगट नहीं होती। यहाँ एकरूप आत्मस्वभाव का ही ग्रहण कराना है, उसमें किसी प्रकार प्रकार के भेद का या विकल्प का अधिकार नहीं है। संवर तो एक निर्मल पर्याय है। यहाँ पर्यायदृष्टि ही छुड़ानी है, इसलिए संवरतत्त्व भी हेय है। अर्थात् उसका लक्ष्य करनेयोग्य नहीं है। पुण्य-पाप को रोकना—ऐसे विकल्प से पुण्य-पाप नहीं रुकते, परन्तु एकरूप आत्मस्वभाव के लक्ष्य से ही पुण्य-पाप रुकते हैं; इसलिए एकरूप आत्मस्वभाव ही उपादेय है। आत्मस्वभाव के लक्ष्य से एकाग्र होने पर पर्याय में संवर-निर्जरा और मोक्ष हो जाते हैं।

छठा, निर्जरातत्त्व है। आत्मस्वभाव की एकाग्रता से शुद्धता बढ़े और अशुद्धता टले, वह निर्जरा है। 'मलिनता टालूँ और शुद्धता बढ़ाऊँ'—ऐसा विकल्प भी हेय है; वह विकल्प परद्रव्यस्वरूप है, उसके लक्ष्य से धर्म नहीं होता।

सातवाँ, मोक्षतत्त्व है। मोक्ष अर्थात् आत्मा की सम्पूर्ण शुद्धदशा। यह मोक्षतत्त्व भी हेय है। पर्यायबुद्धि—अज्ञानी को ऐसा लगता है कि अर र! क्या मोक्षतत्त्व भी छोड़नेयोग्य?—परन्तु भाई! मोक्ष तो एक पर्याय है। मोक्षपर्याय पर जिसका लक्ष्य है, उसे कभी मोक्षदशा प्रगट नहीं होती। पर्यायदृष्टि छोड़कर पूर्ण द्रव्यस्वभाव को दृष्टि में स्वीकार न करे, तब तक धर्म नहीं होता। 'मैं मोक्ष करूँ'—ऐसा विकल्प, वह परद्रव्य स्वरूप है। 'मैं आत्मा, और मेरा मोक्ष करूँ' ऐसे विचार द्वारा आत्मतत्त्व का ग्रहण नहीं हो सकता, इस विचार में तो रागस्वरूप भेद का विकल्प आता है। अभेद शुद्ध आत्मस्वरूप

को ही उपादेयरूप से अंगीकार करके, वहाँ एकाग्र होने से मोक्षदशा सहज होती है।

'मेरा मोक्ष करूँ' ऐसा रागभाव हो, वह अंगीकार करनेयोग्य नहीं है, क्योंकि वर्तमान में मोक्षदशा तो नहीं है, इसलिए उस पर लक्ष्य करने से पर्यायबुद्धि टलेगी नहीं और आत्मस्वभाव लक्ष्य में आयेगा नहीं। जो त्रिकाल आत्मस्वभाव है, उसके ऊपर लक्ष्य करने से ही पर्यायबुद्धि टलती है; इसलिए वह त्रिकाली द्रव्य ही उपादेय है, इसके अतिरिक्त सातों तत्त्व हेय है। इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि हे भव्य! उपादेयस्वरूप तो एक आत्मस्वभाव है, ऐसा तू समझ, उसकी पहिचान कर।

बहुत से जीव ऐसा मानते हैं कि अपने से आत्मा की समझ नहीं हो सकती। ज्ञानी उसे कहते हैं कि भाई! प्रत्येक जीव आत्मस्वभाव को समझ सकता है। जिसमें स्मरणशक्ति है, उसने विपरीतता से भूल की है; वह भूल टालकर, वह स्वयं सच्ची समझ कर सकता है। भूल करनेवाला जीव स्वयं है और सच्ची समझ करके भूल टालनेवाला भी स्वयं है। जीव भूले और जीव समझे। कोई जड़ समझता नहीं; इसलिए 'मुझे समझ में नहीं आता' ऐसी बुद्धि निकाल देना चाहिए। जिसे आत्मा का प्रेम हो, उसे आत्मा की समझ मुश्किल नहीं लगती।

यहाँ आचार्यदेव आत्मस्वभाव समझाते हुए कहते हैं कि जीव-अजीव आदि सातों तत्त्व के विकल्प, वे परद्रव्य हैं और उन सातों तत्त्वों के विकल्पों से अगोचर जो शुद्ध अभेद आत्मस्वरूप है, वही एक स्वद्रव्य है। वही जीव है और उसे ही अंगीकार करना है। शुद्ध जीव को अंगीकार करने से शुद्धभाव प्रगट होता है। अंगीकार करना अर्थात् उसकी श्रद्धा करना, उसका ज्ञान करना और उसमें लीन होना। जहाँ सात तत्त्व के भेद की श्रद्धा है, वहाँ एक स्वतत्त्व अनुभव में नहीं आता और एक स्वतत्त्व की श्रद्धा में सात तत्त्व के विकल्प नहीं होते। सात तत्त्व के विचार में क्रम पड़ता है और राग होता है। एक स्वतत्त्व के लक्ष्य में भेद नहीं, राग नहीं; इसलिए अपना एक शुद्धस्वरूप जैसा है, वैसा जानकर उसमें स्थिर होना, वही धर्म और मोक्षमार्ग है।

★★★★★

व्याख्यान नं. २३, वैशाख कृष्ण ५, शनिवार

(गाथा ३८ चालू)

यह शुद्धभाव अधिकार चलता है। आत्मा का स्वभाव, वही शुद्धभाव है और वही आदरणीय है। उस शुद्धस्वभाव को मानना, वह सम्यग्दर्शन है। आत्मा का शुद्धस्वभाव पर से भिन्न और विकल्प से रहित किस प्रकार है, उसे जानकर, उसकी रुचि करना, वह सम्यग्दर्शन है। स्वभाव क्या और परभाव क्या—यह जाने बिना स्वभाव की रुचि होती नहीं और पर की महिमा टलती नहीं और तब तक जीव का धर्म होता नहीं।

जीव अपने स्वभाव को भूलकर पर की चाहे जैसी रुचि करे और कर्तापने की घनघनाहट करे, परन्तु इससे परचीज़ कहीं अपनी नहीं हो जाती और स्वयं परचीज़ का कुछ नहीं कर सकता। अपने स्वभाव की पूर्णता की महिमा जानी नहीं, इसलिए विकार से और पर से अपनी महिमा मान रहा है। शुभभाव करे, वहाँ तो मैंने बहुत किया, ऐसा मान लेता है और विचार प्रमाण बाहर में अनुकूलता देखे, वहाँ तो मानो कि मैं इससे भरपूर हैं, परन्तु उस अज्ञानी को भान नहीं कि ज्ञान-सुख से भरपूर तो अपना स्वभाव ही है और वही अपने को शरणभूत है, बाहर की कोई वस्तु जरा भी शरणभूत नहीं और विकार भी शरणभूत नहीं। जिसे अपने स्वभाव की विकार से और पर से भिन्नता भासित नहीं होती और विकार में तथा पर में ही एकाकारपना मान रहा है, वह अपने शुद्धभाव को उपादेय नहीं जानता; वह मिथ्यादृष्टि है और जो जीव अपने शुद्धभाव को विकार से और पर से भिन्न जानकर उपादेय मानता है, वह धर्मात्मा—सम्यग्दृष्टि है।

इस जीव को परवस्तुएँ जरा भी शरणभूत नहीं। परन्तु 'मुझे परवस्तु शरणभूत नहीं और उसमें मेरा सुख नहीं'—ऐसा अज्ञानी को मूढ़ बुद्धि से दिखाई नहीं देता। स्वयं सदा परिपूर्ण भगवानस्वरूप अन्तर में स्थित है, उसे तो भूल ही जाता है और वर्तमान में

अशुभ छोड़कर शुभपरिणाम करे, वहाँ तो स्वयं भरपूर हो, ऐसा अज्ञानी को लगता है परन्तु श्रीगुरु कहते हैं कि भाई! पुण्य तेरा स्वरूप नहीं। पुण्य किया, इससे तेरी आत्मा की महिमा नहीं। तेरा आत्मा तो पुण्य-पापरहित अभी ही एकरूप ज्ञानभाव से भरपूर है, उसमें ही तेरा सुख है, वही तुझे उपादेय है। तू उसे भूलकर, पुण्य-परिणाम में तेरा एकत्व मान रहा है और उसमें सुख मानता है, परन्तु भाई! इस उल्टी मान्यता से तो करोड़ों काले बिच्छुओं के डंक की वेदना से भी अधिक दु:ख की वेदना तू भोग रहा है। इसलिए शुद्धस्वभाव के अभ्यास द्वारा वह मान्यता छोड़।

जो शुभ या अशुभपरिणाम होते हैं, वे आत्मा के मूलस्वरूप में नहीं, परन्तु पर्याय में ऊपर-ऊपर से होनेवाले विकार भाव हैं। उन ऊपर-ऊपर से होनेवाले भावों जितना आत्मा को न मानकर तू अन्तर के मूलस्वरूप को देख। जैसे समुद्र के पानी में कहीं मलिन लहर दिखाई दे, परन्तु कहीं पूरा समुद्र मलिन नहीं है। क्षणिक मलिन लहरें पूरे समुद्र को मलिन करने में समर्थ नहीं है। मलिन लहरों के समय भी समुद्र तो निर्मल है; उसी प्रकार यह आत्मा चैतन्यसमुद्र है, इसकी वर्तमान दशा में जो मलिनता दिखती है, वह क्षणिक है, पूरा आत्मस्वरूप मलिन नहीं है। आत्मस्वरूप शुद्ध एकरूप है। क्षणिक विकार होता है, वह भाव पूरे शुद्धस्वरूप को मलिन करने में समर्थ नहीं है। विकार जितना ही आत्मा मानना, वह अज्ञान है और शुद्ध आत्मस्वरूप को मानना, वह सम्यग्ज्ञान है।

मीठे जल से भरपूर समुद्र की लहर में जो मलिनता दिखती है, उतना ही कहीं पूरा समुद्र नहीं है। मूलस्वरूप से समुद्र को देखो तो वह समुद्र और उसका पानी एकरूप स्पष्ट है, लहर की मलिनता तो बाहर की उपाधि है; उसी प्रकार यह आत्मा सदा चैतन्यरूप है। उसमें वर्तमान जो विकारभाव दिखता है, वह उसके मूलस्वरूप में नहीं है। यदि अकेले आत्मा को मूलस्वरूप से देखो तो, उसके द्रव्य में-गुण में या वर्तमान वर्तते भाव में भी विकार नहीं है। आत्मा का मूलस्वरूप शुद्ध है, वह उपादेय है। जैसे समुद्र का ऐसा स्वभाव है कि वह मैल को अपने में रहने नहीं देता, परन्तु उछालकर बाहर फेंक देता है; उसी प्रकार आत्मस्वरूप में विकारभावों का प्रवेश नहीं हो सकता। आत्मा अन्तरतत्त्व है और विकार बहिर्तत्त्व है; अन्तरतत्त्व में बहिर्तत्त्व का प्रवेश नहीं

है। आत्मा का स्वभाव विकार का नाश करने का है। ऐस आत्मस्वभाव ही अमृतरूप है, उसकी पहिचान के अतिरिक्त दूसरे जितने भाव करे, वे सब जहररूप संसार स्वरूप है।

पुण्य-पापपरिणाम में या उनके फल को भोगने में आनन्द मानना, वह मूढ़ता है। पुण्यपरिणाम करके ऐसा मानना कि 'मैंने बहुत अच्छे भाव किये', वह अग्नि का लावा भोगने जैसा है। जैसे कोई पागल मनुष्य अग्नि से झगझगाते अच्छे कोयले को हाथ में लेकर ऐसा माने कि मैं अग्नि का लह्वा लेता हूँ, मुझे बहुत आनन्द आता है, परन्तु अग्नि से स्वयं का हाथ जल जाता है, इसका उसे भान नहीं है। उसी प्रकार पुण्यपरिणाम के वेदन से तो आकुलतारूपी अग्नि में आत्मा जल रहा है, परन्तु अज्ञानी उसमें शान्ति मानता है।

आत्मा अपने स्वभाव से भरपूर है, परन्तु अज्ञानी जीव स्वभाव की महिमा समझता नहीं, इसलिए स्वभाव की शरण नहीं करता; उसकी दृष्टि निमित्तों पर है, इसलिए निमित्तों की उपस्थिति में उसे अपनी शरण लगती है। बाहर के पदार्थों से तो स्वयं खाली है और अन्तर में शुद्ध आनन्दघन स्वभाव से भरपूर है, वही उपादेय और शरणभूत है। परन्तु उसके भान बिना बाहर की क्षणिक वस्तुओं से अपने को भरपूर मानता है और स्वयं को माल बिना का मानता है। परन्तु बाहर के पदार्थों में से जीव की शान्ति आवे, ऐसा नहीं और किंचित् पुण्यपरिणाम करे, उससे अपने को भरपूर मानता है, क्षणिक परिणाम में ही अर्पित होकर उसमें ही आत्मा का सर्वस्व मान बैठा है। परन्तु क्षणिक पुण्यपरिणामरहित पूरी वस्तु ज्ञानकन्द है, उसे नहीं जानता।

जीव का श्रद्धागुण ऐसा है कि जहाँ उसकी दृष्टि पड़े, वहाँ वह अपने को पूरा मानता है। अपना मूलस्वभाव पूरा है, उसकी श्रद्धा छोड़कर अज्ञानी ने विकर में और पर में अपनापन माना है, इसलिए विकार से और पर से ही अपने को भरपूर-पूर्ण मानता है, परन्तु उससे भिन्न स्वरूप है, उसे नहीं मानता। जहाँ-जहाँ दृष्टि देता है, वहाँ-वहाँ भरा और पूरा ही मानता है, अधूरा नहीं मानता। अन्तर में अपना स्वभाव पूरा है, उससे उल्टा पड़कर बाहर में भी अपनी पूर्णता मानता है। स्वयं पूरा है परन्तु दृष्टि में गुलांट मारी है, इसलिए बाहर में पूर्णता मान बैठा है। बाहर में पूर्णता माननेवाला स्वयं ही पूरा, परन्तु जहाँ पूर्णता है, वहाँ नहीं मानकर, जहाँ नहीं, वहाँ अपनापन माना है। श्री आचार्यदेव

कहते हैं कि तेरा शुद्धस्वभाव ही तुझे उपादेय है, उसकी ही तू मान्यता कर; इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ तुझे ग्रहण करनेयोग्य नहीं है। पर्याय में रागादि होने पर भी वे ग्रहण करनेयोग्य नहीं हैं। ऐसी श्रद्धा करना, वह धर्म है। रागादि में आत्मा नहीं, तथापि वहाँ मिथ्याकल्पना करके अपनापन मान रहा है, वह असत् मान्यता ही अधर्म है। और जो अपना स्वभाव सत् है, उसे ही मान्यता में स्वीकार करना, वह सत् की मान्यता है, और वह धर्म है।

अज्ञानी जीव पैसा, बँगला, स्त्री इत्यादि को शरणभूत मानता है, परन्तु जब बिच्छु ठीक से डंक मारता है, तब चिल्लाहट मचाता है, उस समय पैसा, बँगला और स्त्री इत्यादि वस्तुएँ वह की वह होने पर भी क्यों शरणभूत नहीं होती? पहले उनमें सुख मानता था न? कहाँ गयी तेरी सुख की कल्पना? इसलिए हे अज्ञानी! तू समझ कि वे कोई भी बाहर के पदार्थ तुझे शरणभूत नहीं हैं; उसमें सुख की जो कल्पना की थी, वह कल्पना भी शरणभूत नहीं है और जिसके फल में वे संयोग मिले हैं, वह पुण्य भी तुझे शरणभूत नहीं है। ये सब तुझसे बाह्य तत्त्व हैं और तेरा एकरूप चैतन्यस्वभाव, वह अन्तरतत्त्व है और वही शरणभूत है। उस स्वभाव की पहिचान आचार्यदेव इस गाथा में कराते हैं।

यह आत्मा अपने गुणों से और पर्यायों से पूरा है; वर्तमान पर्याय में जो अधूराश दिखती है, उतना वह नहीं है। पर्याय का लक्ष्य छोड़कर द्रव्यस्वभाव के लक्ष्य से जो एकरूप स्वभाव ज्ञात होता है, वही आत्मतत्त्व है, और वही उपादेय है। जब तक उसका अनुभव न हो, तब तक उसके लक्ष्य से बारम्बार उसका श्रवण-मनन करना चाहिए। और उसकी महिमा का बारम्बार चिन्तवन करना चाहिए। अनादि से पर्याय जितना मानकर स्वयं उसकी महिमा में अटका है और विकार का ही अनुभव किया है, उसके बदले स्वभाव की महिमा करे तो विकाररहित शुद्धभाव का अनुभव होता है और विकार की महिमा छूट जाती है। सुखी होने का मार्ग यही है।

आत्मा एकरूप द्रव्य है। उसकी पर्याय में सात तत्त्वों के विकल्परूपी लहरें उठें, वह आत्मा नहीं है। 'मैं जीव हूँ' ऐसे विकल्प में अटकना, वह अज्ञानबुद्धि है, क्योंकि 'मैं जीव हूँ, अजीव नहीं' ऐसे विकल्प, वह आत्मा नहीं है। विकल्प तो मलिन तरंग है।

शुभराग है, उसे आत्मा मानना वह तो चपटी धूलवाली एक तरंग को ही पूरा समुद्र मान लेने जैसा है। उस विकल्प को गौण करने से जो अकेला चैतन्यदल रह जाता है, वह आत्मस्वभाव है। चतुर व्यक्ति एक मलिन लहर देखकर पूरे समुद्र को मलिन नहीं मान लेता परन्तु वह जानता है कि पूरा समुद्र स्वच्छ है, यह मलिन लहर उसका स्वरूप नहीं है। समुद्र उस मलिनता को उछालकर बाहर फैंक देगा।

उसी प्रकार जीव-अजीव आदि के जो विकल्प उठते हैं, वह मलिन लहरों के समान क्षणिक विकार है; पूरा आत्मा विकारवाला नहीं है। आत्मा का स्वभाव उस विकाररूप नहीं हो गया है—ऐसा ज्ञानी जानता है। 'मैं जीव हूँ और प्रयत्न द्वारा मेरी मोक्षदशा प्रगट करूँ' ऐसा विकल्प उठे, वह विकार है। ज्ञानी उसे स्वभाव में प्रवेश नहीं होने देता परन्तु भेदज्ञान के बल से उसे भिन्न का भिन्न ही रखता है; इसीलिए चैतन्यस्वभाव के जोर से उस विकार को उछालकर बाहर फैंक देता है परन्तु अज्ञानी तो विकार को और आत्मा को एकमेक जानता है, इसलिए वह कभी विकार से मुक्त नहीं होता।

पर्याय में चाहे जितने मलिनभाव हों, वे एक समयमात्र ही हैं और वे स्वभाव के बाहर ही रहते हैं; स्वभाव में प्रविष्ट नहीं होते। जैसे—कोई मनुष्य लकड़ी द्वारा मलिन लहर को समुद्र में घुसाने का प्रयत्न करे, परन्तु वह मलिनता समुद्र में प्रविष्ट नहीं हो सकती। क्योंकि समुद्र का स्वभाव ऐसा है कि वह मैल को अपने में प्रविष्ट नहीं होने देता। इसी प्रकार यह आत्मा परमपारिणामिकभावरूप चैतन्यसमुद्र है। विकारी अवस्था, वे मलिन लहरों के समान हैं। मलिन अवस्था एक ही समयमात्र की है, वह मलिनता आत्मा के स्वभाव में इकट्ठी नहीं होती। आत्मा का स्वभाव कभी विकारी नहीं हो जाता है। आत्मा का स्वभाव विकार से पृथक् ही रहने का है। ज्ञानी जानता है कि शुभराग के सब विकल्प मेरे स्वभाव की चीज़ नहीं, परन्तु अन्तर में सदा एकरूप ज्ञायकभाव है, वही मैं हूँ और वहीं मुझे आदरणीय है; उसकी श्रद्धा करके उसमें ही एकाग्र होनेयोग्य है। इस प्रकार अपने अन्तरस्वभाव की प्रतीति द्वारा उसमें ही आदरबुद्धि हो, उसका नाम शुद्धभाव का ग्रहण है और वही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र है, वही नियमसार है। जिसने ऐसे शुद्धात्मा का ग्रहण किया है, वह सम्यग्दृष्टि है और उसे बन्धन नहीं होता। क्योंकि वह जीव, बन्ध को और आत्मा के स्वरूप को भिन्न-भिन्न जानकर बन्ध को छोड़ता है

और आत्मस्वभाव को ही ग्रहण करता है; इसलिए उसे बन्धन नहीं होता—यह बात समयसार के बन्ध अधिकार में (दोपहर में व्याख्यान में) वाँचन होती है। अभी ऐसा सम्यग्दर्शन किस प्रकार होता है, यह बात चलती है।

आत्मा किसी पर का कर्ता या हर्ता नहीं, तथा आत्मा का कर्ता या हर्ता कोई नहीं। आत्मा स्वयं पर के अवलम्बनरहित है। पर की अपेक्षारहित अपने सहज ज्ञानस्वभाव की दृष्टि, वही सम्यग्दर्शन है। विकल्प द्वारा आत्मा ग्रहण नहीं होता। विकल्प, वह आत्मा की जाति नहीं है। विकल्परहित आत्मस्वभाव है, वही ग्रहण करनेयोग्य है, आत्मा का जो स्वभाव है, उसे श्रद्धा में मानना, ज्ञान में जानना और उसमें एकाग्र होना, इसका नाम शुद्धात्मा का ग्रहण है।

ऐसे शुद्धात्मा का ग्रहण मुख्यरूप से मुनि को होता है। चौथे गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि को शुद्धात्मा का ग्रहण होता है, परन्तु उसे अभी शुद्धात्मा में विशेष स्थिरता नहीं है। सर्वसंघ परित्यागी मुनिवर शुद्धात्मा को ध्यान में लेकर विशेष स्थिरता कर सकते हैं। इसलिए यहाँ मुख्यरूप से उनकी बात है परन्तु श्रद्धा-ज्ञान द्वारा शुद्धात्मा का ग्रहण तो प्रत्येक जीव कर सकता है।

अब अपने शुद्धात्मा को ही उपादेयरूप जानकर उसमें ही लीन होनेवाले मुनिवर कैसे होते हैं, उनका वर्णन करते हैं।

वे मुनि, सहज वैराग्यरूपी महल का जो शिखर, उसके शिखामणी हैं। स्वभाव की भावना होने से परद्रव्य के प्रति स्वाभाविक वैराग्य होता है। सद्भाव के भान बिना बाहर में त्याग कर दिया हो—वह कहीं वैराग्य नहीं है। स्वभाव के भान बिना कषाय की मन्दता करके त्यागी हो तो भी वह सहज वैराग्य नहीं है और उसका त्याग, वह सच्चा त्याग नहीं है। जिसे शुद्धात्मा का ग्रहण नहीं, उसे परभावों का त्याग नहीं होता। परभावों को ही जो उपादेय मानता है, उसे वैराग्य कैसा?

सहजज्ञान, वही मेरा स्वरूप है। मेरा स्वरूप जड़ रजकणों में या राग में नहीं। पंच महाव्रत पालन करूँ, ऐसा विकल्प भी राग है—बन्धन है, वह मेरा स्वरूप नहीं—इस प्रकार अपने ज्ञानस्वभाव के भान में ज्ञानी को सहज वैराग्य होता है। चौथे गुणस्थान

से ही सहज वैराग्य होता है। सम्यग्दर्शन, वह सहज वैराग्यरूपी महल का मूल है और मुनि तो उस सहज वैराग्यरूपी महल की टोंच—ऊपर की मणि समान हैं। उनकी परिणति अपने सहजस्वभाव में बहुत ढल गयी है। स्वभाव से ही स्वभाव में आकर जिनकी परिणति पर से उदास हो गयी है, ऐसे वैराग्य के शिरोमणि मुनिवरों को एक अन्तर तत्त्व ही उपादेय है।

किसी ने एक बाबाजी को एकान्त में पूछा—बाबाजी! कैसी माला फिराते हो? बाबाजी कहे—जैसा मनुष्य का भरावा हो वैसी। अर्थात् कि यदि बहुत लोग हों तो बहुत एकाग्रता का दम्भ करे और कम लोग हों तो माला एक ओर रख दे। यह लोगों को दिखाने के लिये दम्भ है; वह तो पापभाव है। जो लोगों को दिखाने के लिये दम्भ न करे परन्तु अपने परिणाम में ही कषाय की मन्दता करके शुभभाव से त्यागी हुआ हो और उससे धर्म मानता हो, ऐसे जीव को भी सच्चा वैराग्य नहीं है। जिस जीव को अन्तर में एक शुद्धात्मा के अतिरिक्त अन्यत्र किसी में उपादेयबुद्धि नहीं, उसे ही सच्चा वैराग्य होता है। ऐसा सहज वैराग्यरूपी महल की टोंच के ऊपर के मणिसमान मुनिवरों को शुद्धात्मा ही उपादेय है। शुद्धात्मा को उपादेयरूप से जानना, वही धर्म है।

शुद्ध आत्मा ही जिन्हें उपादेय है, ऐसे योगीश्वर परद्रव्यों से परान्मुख होते हैं। इस जीव को अपने अन्तरस्वभाव के अतिरिक्त किसी दूसरे की शरण नहीं है। किसी पर के साथ सम्बन्ध नहीं है। देव-गुरु-शास्त्र भी इस जीव को शरणभूत नहीं है। स्वयं अन्तरतत्त्व है और सभी परद्रव्यों से उदासीन है। मुमुक्षु जीवों को सच्चे देव-गुरु के गुणों की अधिकता देखकर उनके प्रति प्रमोद और भक्तिभाव आता तो अवश्य है। निचली भूमिका में यदि गुणों की अधिकता देखकर उनके प्रति प्रमोदभाव और भक्ति न जगे तो वह जीव शुष्क है, उसे वास्तव में गुण की रुचि नहीं है। परन्तु देव-गुरु के प्रति जो प्रमोदभाव होता है, वह भी शुभराग है। उस राग को यदि शरणभूत माने तो अज्ञान है। यदि पर को शरणरूप मानेगा तो पर से उदासीन होकर अपने स्वरूप का आदर कहाँ से करेगा? और देव-गुरु के प्रति शुभराग को यदि अपना कर्तव्य मानेगा या उससे कल्याण मानेगा तो उस राग का आदर छोड़कर अपने ज्ञानस्वरूप का आदर कब करेगा? इसलिए सभी निकट भव्य जीवों को एक शुद्ध आत्मा ही उपादेय है। जो जीव अपने

सहज स्वभाव की सन्मुखता होने पर सभी परद्रव्यों से परान्मुख हो गया, अर्थात् एक स्वभाव को ही उपादेय रखा और दूसरे सबको बहिर्तत्त्व जानकर उनकी श्रद्धा छोड़ दी, वह धर्मी है। आत्मा को उपादेय जाननेवाले मुनिवर उत्कृष्ट वैराग्यवन्त होते हैं, जो परद्रव्यों से परान्मुख होते हैं—यह बात की। और वे मुनिवर कैसे हैं ?—पंचेन्द्रिय के फैलाव से रहित हैं और मात्र शरीर का ही परिग्रह है। मुनि को पाँच इन्द्रियाँ तो होती हैं परन्तु उनका फैलाव नहीं है अर्थात् पाँच इन्द्रियों की रस-रूप इत्यादि विषयों की ओर से उनकी परिणति रुक गयी है। उन्हें मात्र शरीर का ही परिग्रह है। मोरपिच्छी और कमण्डल होते हैं परन्तु वे अपने शरीर की रक्षा के लिये नहीं हैं।

और उन मुनिवरों की बुद्धि स्वद्रव्य में लीन है। पहले अज्ञानदशा में पर को अपनेरूप मानकर और रागादि को आत्मा का स्वरूप मानकर ज्ञान वहाँ लीन होता था, अब भेदज्ञान द्वारा शुद्धात्मस्वभाव को ही उपादेय जानकर, ज्ञान को परद्रव्य की लीनता में से विमुख करके स्वद्रव्य में जोड़ा है और शुद्धात्मस्वरूप के विशेष अनुभव द्वारा ज्ञान को स्वद्रव्य में लीन लिया है। इस प्रकार जिन्होंने अपने ज्ञान को अपने में ही जोड़ दिया है, ऐसे वे वीतरागी सन्त सातवें-छठवें गुणस्थान में आत्मानन्द में झूलते हैं, क्षण-क्षण में विकल्प तोड़कर शुद्ध आत्मा का साक्षात् अनुभव करते हैं। उन मुनिवरों ने मिथ्यात्व और कषाय को जीत लिया है, इसलिए वे परमजिन हैं और स्वद्रव्य में जुड़े हुए होने से वे योगी हैं। ऐसे परमजिनयोगीश्वरों को एक शुद्धात्मा ही आदरणीय है, इसके अतिरिक्त दूसरे सभी परद्रव्य और परभाव हैं, वे बहिर्तत्त्व हैं, वे आदरणीय नहीं हैं।

इस गाथा में उपादेयरूप शुद्धात्मा का वर्णन किया है और साथ-साथ मुनिदशा कैसी होती है और आसन्नभव्य जीव कैसे होते हैं, उसका भी वर्णन आ जाता है। योगीश्वरों को एक शुद्धात्मा ही अंगीकार करनेयोग्य है-ऐसा मुनि का दृष्टान्त लेकर आचार्यदेव कहते हैं कि समस्त आसन्न भव्य जीवों को निजकारणपरमात्मा के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी अंगीकार करनेयोग्य नहीं है।

इस गाथा में, पहले तो शुद्धात्मा के अतिरिक्त नव तत्त्व बहिर्तत्त्व हैं, इसलिए उनकी श्रद्धा छोड़नेयोग्य है—ऐसा बतलाया। फिर मुनि का स्वरूप बतलाया है कि वे उत्कृष्ट वैराग्यवाले हैं, परद्रव्यों से परान्मुख हैं। पाँच इन्द्रियों के फैलाव से रहित हैं,

मात्र शरीर का ही परिग्रह है और उनकी बुद्धि स्वद्रव्य में लीन है—ऐसे परम जिन योगीश्वरों को एक आत्मा ही उपादेय है। अर्थात् जिसके अन्तर में सहज वैराग्य न हो, जो परद्रव्यों से परान्मुख न हो परन्तु पर की भावनावाला हो, जिसे पाँच इन्द्रियों के विषयों की इच्छा हो, जिसे शरीर के अतिरिक्त वस्त्र-धन इत्यादि का परिग्रह हो और जिसकी बुद्धि स्वद्रव्य में लीन न हो—ऐसा कोई जीव मुनि नहीं है और एक शुद्धात्मा के अतिरिक्त दूसरे को उपादेय माने, वह भी मुनि नहीं है।

जैसे मुनिवरों को एक शुद्ध परमात्मा ही उपादेय है, वैसे समस्त आसन्न भव्य जीवों को अपना शुद्ध परमात्मस्वभाव ही उपादेय है। जो शुद्ध परमात्मस्वभाव को न जाने और उसके अतिरिक्त दूसरे को उपादेय माने, वे जीव आसन्न भव्य नहीं है। निचली साधकदशा में शुभ या अशुभभाव में भी जुड़ान होता हो, तथापि जो अत्यन्त निकट भव्य हैं, ऐसे जीव अन्तरश्रद्धा में एक शुद्धात्मा के अतिरिक्त दूसरे किसी भाव को अपना स्वरूप नहीं मानते, उन्हें शुद्धात्मा का ही आदर है और दूसरे सभी भावों का निषेध है। साधक की दृष्टि का जोर शुद्धस्वभाव में ही है। सन्त-मुनिदशा जैसी आत्मस्थिरता न हो सके तो हे जीव! श्रद्धा तो ऐसी ही रखना कि मुझे एक शुद्ध कारणपरमात्मा के अतिरिक्त दूसरा कोई आदरणीय नहीं है। जीव यदि अपने शुद्धस्वभाव को आदरणीय जानकर उसकी श्रद्धा-ज्ञान करेगा तो उस ओर के विशेष पुरुषार्थ से उसमें स्थिरता प्रगट करने से अशुद्धभाव टल जायेंगे और मुक्ति होगी; परन्तु यदि शुद्धात्मा के अतिरिक्त दूसरे भावों को आदरणीय जानेगा तो कभी भी शुद्धभाव प्रगट नहीं होगा।

छोटे बालक के पास सौ रुपये की कीमत का गहना हो, परन्तु यदि कोई उसे दो पैसे की कीमत का पेड़ा दे तो वह गहना दे देता है क्योंकि उसने गहने की कीमत नहीं जानी और पेड़े की मिठास लगती है। इसी प्रकार अज्ञानी जीव ने अपने अखण्ड एकरूप निरपेक्षस्वभाव की महिमा नहीं जानी, इसलिए वह पर्याय जितना ही आत्मा को मानकर पूरे स्वभाव को भूल जाता है, उसे राग की-पुण्य की मिठास है। एक क्षणिक विकल्प में पूरा आत्मा बेच देना, वह अज्ञान है-दु:ख है-अधर्म है और 'विकल्प जितना मैं नहीं; मैं तो विकल्प से पार सदा एकरूप रहनेवाला हूँ', ऐसे श्रद्धा-ज्ञान द्वारा पूरे आत्मा को विकल्प से भिन्न टिका रखना, वह सम्यग्दर्शन है—सुख है—धर्म है।

जब तक अपना पूरा स्वभाव कैसा है, उसकी पहिचान और महिमा न करे, तब तक जीव को धर्म नहीं होता।

सम्यग्दर्शन के विषयभूत शुद्धात्मा कैसा है ? अर्थात् सभी जीवों को आदरणीय ऐसे शुद्ध आत्मा का स्वरूप क्या है ? वह अब आचार्यदेव वर्णन करते हैं—'औदायिकादि चार अन्य भावों से अगोचर होने से द्रव्यकर्म-भावकर्म और नोकर्म की उपाधि से जनित विभावगुण-पर्यायों से रहित है, अनादि-निधन अमूर्त अतीन्द्रियस्वभावरूप शुद्धसहज परमपारिणामिकभावस्वरूप कारणपरमात्मा है, ऐसा यह आत्मा है।'

औदयिक-औपशमिक-क्षायोपशमिक और क्षायिक ये चारों भाव क्षणिक हैं, इनकी श्रद्धा से सम्यग्दर्शन नहीं होता; इन चार भावों से निरपेक्ष आत्मा का परमपारिणामिक -स्वभाव है, वह त्रिकाल एकरूप है, उसकी श्रद्धा करना, वह सम्यग्दर्शन है। आत्मा का सदा ही पूर्णस्वरूप है, वह शुद्धभाव है, वह त्रिकाल है। वर्तमान पर्याय में विकार में एकताबुद्धि जो अशुद्धभाव है, वह टालकर शुद्धभाव प्रगट करना, वह मोक्षमार्ग है। पर्याय में शुद्धभाव किस प्रकार प्रगट हो ? जो त्रिकाली शुद्धभाव है, उसे जानकर पर्याय में उसे ही उपादेयरूप से स्वीकार करने पर, विकार के साथ की एकता छूटकर त्रिकाली शुद्धभाव के साथ पर्याय की एकता होती है। द्रव्य-पर्याय अभेद एकरूप होने पर, जैसा द्रव्य का त्रिकाली शुद्धभाव है, वैसी पर्याय हो जाती है। अर्थात् कि पर्याय में शुद्धभाव प्रगट होता है—यह मोक्षमार्ग है।

आत्मा अपनी पर्याय में जो क्रोध-मान-माया-लोभ इत्यादि विकारी भाव करता है, उसमें कर्म का उदय निमित्त है; इसलिए उस भाव को औदयिकभाव कहा जाता है। कहीं कर्म का उदय जीव को विकार नहीं कराता, परन्तु जीव स्वयं स्वभाव की स्वाधीनता छोड़कर कर्म के लक्ष्य से विकार करता है। आत्मा उस विकारी भाव से अगोचर है।

प्रश्न—नाटक समयसार में तो पर्यायदृष्टि से आत्मा को पराधीन कहा है।

उत्तर—पराधीनता का अर्थ ऐसा नहीं है कि कर्म जीव को विकार कराते हैं। वहाँ कहा है कि द्रव्यदृष्टि से आत्मा सदा स्वाधीन है और पर्यायदृष्टि से पराधीन है;

अर्थात् कि यदि जीव अपने स्वभाव की दृष्टि करे तो उसे स्वाधीनता है और विकार नहीं होता। तथा यदि पर्यायदृष्टि से देखे तो पर्याय में विकार है। अज्ञानी जीव पर्यायदृष्टि से स्वयं पर के आधीन होकर विकार करता है, इसलिए उसे पराधीन कहा है। परन्तु एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को हैरान करे, ऐसा पराधीनता का अर्थ नहीं है। जीव कर्म के आधीन है, ऐसी मान्यता तो तीव्र अज्ञान है। यहाँ तो कहते हैं कि कर्म के लक्ष्य से जो विकारी भाव होते हैं, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। उससे आत्मा नहीं पहिचाना जाता। तीर्थंकरनामकर्म बँधे, वैसा भाव भी आत्मा नहीं है, और वह उपादेय तत्त्व नहीं है। औदयिकभाव एक समयमात्र का ही है, एक-एक समय होकर अनन्त काल गया है। उस एक समय के औदयिकभाव जितना आत्मा नहीं है। औदयिकभाव आत्मा की पर्याय में ही होता है और जब तक जीव न टाले, तब तक प्रत्येक समय वह नया-नया हुआ करता है। इस प्रकार पर्याय में औदयिकभाव है, वह जीव का स्वरूप नहीं। औदयिकभाव, वह जीव है—ऐसी श्रद्धा करने से सम्यग्दर्शन नहीं होता।

दूसरा औपशमिकभाव है, उससे भी आत्मा अगोचर है। जैसे पानी स्वच्छ हो गया हो और मैल नीचे बैठ गया हो, उसी प्रकार आत्मा में इस प्रकार का पुरुषार्थ प्रगटे कि वर्तमान निर्मल भाव हो और निमित्तरूप कर्म का उदय बैठ गया हो अर्थात् मोहकर्म सत्ता में हो परन्तु उदय में न हो—उसे उपशमभाव कहा जाता है। उपशमभाव यद्यपि आत्मा की निर्मल दशा है, परन्तु उस एक समयमात्र की दशा जितना आत्मस्वरूप नहीं है, इसलिए वह भी हेय है।

प्रश्न—पुण्य-विकारी भाव है, इसलिए उसे उपादेय नहीं कहा, यह तो बराबर है परन्तु यह उपशमभाव तो आत्मा का निर्मल भाव है, उसे हेय किसलिये कहते हो?

उत्तर—यहाँ शुद्ध जीवतत्त्व बतलाना है। शुद्ध जीवतत्त्व उपशमभाव से अगोचर है। 'उपशमभाव, वह आत्मा है' ऐसी श्रद्धा करने से पूरा आत्मस्वरूप अनुभव में नहीं आता; इसलिए श्रद्धा अपेक्षा से यहाँ उपशमभाव को हेय कहा है और क्षयोपशम तथा क्षायिकभाव को भी हेय कहा है।

प्रश्न—उपशमभाव से आत्मा अगोचर है, ऐसा कहा—तो क्या उपशमभाव द्वारा आत्मा का अनुभव नहीं होता?

उत्तर—उपशमभाव ज्ञानी को ही होता है; अज्ञानी को नहीं होता। इसलिए यद्यपि उपशमभाव से आत्मा का अनुभव हो सकता है परन्तु जब तक उपशमभाव पर लक्ष्य रहे, तब तक अखण्ड शुद्धात्मा का अनुभव नहीं होता; इसलिए यहाँ कहा कि उपशमभाव से आत्मा अगोचर है। उसका आशय ऐसा समझना कि उपशमभाव के लक्ष्य से आत्मा अनुभव में नहीं आ सकता क्योंकि पूरा आत्मा एक उपशमभाव जितना नहीं है।

तीसरा क्षयोपशमभाव है, उससे भी आत्मा अगोचर है। जैसे स्थिर पानी में कंकड़ डालने से थोड़ा कचरा ऊपर आवे, वैसे आत्मा की दशा में थोड़ा सा निर्मलभाव और किंचित् मलिनभाव हो, वह क्षयोपशमभाव है। आत्मा इस क्षयोपशमभाव जितना नहीं है, इसलिए इस क्षयोपशमभाव के लक्ष्य से आत्मा पकड़ में नहीं आता। ऊपर उपशमभाव में कहा है, तद्नुसार यहाँ भी समझना।

अब चौथा क्षायिकभाव है, उससे भी आत्मा अगोचर है। क्षायिकभाव पूर्ण निर्मल है, उसमें विकार नहीं और निमित्तरूप कर्मों का क्षय हुआ है। आत्मा का यह भाव एक समयमात्र का ही है; प्रगट होने के पश्चात् वह सदा ऐसा का ऐसा रहता है परन्तु वह त्रिकाल एकरूप भाव नहीं है; पहले नहीं था और बाद में प्रगट हुआ, ऐसे दो भेद क्षायिकभाव में पड़ते हैं, वह आत्मा का अखण्ड स्वरूप नहीं है। क्षायिकभाव जितना आत्मा नहीं। क्षायिकभाव जितना यदि आत्मा हो तो जब क्षायिकभाव नहीं था, तब क्या आत्मा नहीं था? क्षायिकभाव नहीं था, तब भी आत्मस्वभाव तो पूरा-पूरा एकरूप था। क्षायिकभाव के अभाव में या उसके सद्भाव में जो सदा एकरूप स्वभाव है, वही आत्मा है। क्षायिकभाव, वह मैं हूँ—ऐसी श्रद्धा से सम्यग्दर्शन नहीं होता। आत्मा के परिपूर्ण स्वभाव को स्वीकार किये बिना सम्यग्दर्शन नहीं होता। एक समय की अवस्था, वह पूरी वस्तु नहीं है। क्षायिकभाव तो आत्मा का क्षणिकस्वरूप है, वह कहीं पूरा स्वरूप नहीं, इसलिए यहाँ कहा कि क्षायिकभाव से भी आत्मा अगोचर है। सम्पूर्ण केवलज्ञानदशा, वह क्षायिकभाव है। यद्यपि उस क्षायिकभाव में पूर्ण आत्मा का ज्ञान आ जाता है, इसलिए क्षायिकभाव से आत्मा गोचर है परन्तु क्षायिकभाव जितना ही आत्मा को मानने से शुद्ध आत्मा ज्ञात नहीं होता। इस अपेक्षा से यहाँ कथन है।

क्षायिकज्ञान में आत्मा और सभी पदार्थ ज्ञात होते हैं, परन्तु वह ज्ञान ऐसा जानता

है कि केवलज्ञान स्वयं आत्मा की एक समयमात्र की दशा है, वही कहीं त्रिकाली आत्मद्रव्य नहीं है, आत्मद्रव्य तो तीनों काल की पर्यायें और अनन्त गुण से अभेदरूप सदा एक सरीखे स्वभाव से रहनेवाला है। केवलज्ञान में कुछ ऐसा ज्ञात नहीं होता कि—यह एक क्षायिकदशा, वही पूरा आत्मा है।

श्री आचार्यभगवान पर्यायबुद्धि छुड़ाकर पूरा आत्मस्वभाव बतलाते हैं। उदय-उपशम-क्षयोपशम या क्षायिक ये चारों भाव पर्यायरूप है। एक पर्याय को ही आत्मा मान लेना, इसका नाम पर्यायबुद्धि है और पर्यायबुद्धि, वह मिथ्यात्व है। पर्याय की अपेक्षारहित पूरे आत्मस्वभाव को मानना, वह द्रव्यदृष्टि है और वह सम्यग्दर्शन है। ये उदयादि चारों भाव क्षणिक होने से वे श्रद्धा में उपादेय नहीं हैं; चार भावों से निरपेक्ष त्रिकाल एकरूप पारिणामिकभाव, वही आत्मस्वभाव है और वह आदरणीय है। इस दुर्लभ मनुष्यभव में भी जीव यदि अपने ऐसे स्वभाव को जानकर उसका आदर नहीं करे तो फिर पुन: ऐसा अवसर कब मिलनेवाला है? अपना जैसा पूर्ण स्वभाव है, उसे पहिचानकर उसका ही आदर करना—श्रद्धा करना, वही इस मनुष्यपने में जीव का कर्तव्य है।

यह आत्मा कैसा है? कैसे आत्मस्वभाव को धर्मी जीव आदरते हैं? यह शरीर दिखता है, वह आत्मा नहीं; मनुष्यपना, वह कहीं आत्मा नहीं; राग-द्वेषादि भाव होते हैं, वे आत्मा नहीं। 'मैं मनुष्य, मैं शरीरवाला या मैं रागी-द्वेषी' ऐसी श्रद्धा से आत्मा को मानना, वह तो मिथ्यात्व है और मुनिदशा या केवलज्ञानदशा को ही आत्मा मानना, वह भी मिथ्यात्व है। शरीरादि तो प्रगटरूप से आत्मा से भिन्न हैं; रागादि विकारी भावों से अगोचर जो कोई परम तत्त्व है, उसे आत्मा मानना, वह सम्यग्दर्शन है, वह धर्म है, वह मोक्ष का उपाय है। सभी धर्मी जीव ऐसे परम आत्मतत्त्व को ही उपादेय जानते हैं। जीव यदि एक प्रगट पर्याय को ही आत्मा मान ले और उस प्रगट पर्याय के समय जो अप्रगटरूप पूरा चैतन्यस्वभाव है, उसे न स्वीकार करे तो उसे पूरा जीवतत्त्व श्रद्धा में नहीं आता और जीवतत्त्व की श्रद्धा बिना धर्म नहीं होता।

क्षायिकभाव अर्थात् केवलज्ञान और सिद्धदशा। यह भाव तो सम्पूर्ण शुद्ध है तथापि इस क्षायिकभाव से भी आत्मा अगम्य है अर्थात् कि क्षायिकभाव आत्मा नहीं है,

ऐसा क्यों कहा ? यह स्वर्ण क दृष्टान्त देकर समझाया जाता है।

जैसे दस तौला सोना हो, उसका किसी समय हार बनाया हो, और हार तोड़कर बँगड़ी बनावे, इत्यादि प्रकार से उसके अनेक आकार होते हैं। उसमें एक हार के ही आकार को पकड़कर कोई ऐसा माने कि यह हार, वही सोना का स्वरूप है, तो उसकी बात मिथ्या है। हार के आकार जितना ही सोना नहीं है, क्योंकि हार तोड़कर बँगड़ी बनाओ तो भी सोना वह का वही रहता है। सोना में अच्छी कारीगरी हो, तब कहीं दस तोला सोना बढ़कर ग्यारह तोला नहीं तो हो जाता और खराब कारीगरी हो तब, सोना घटकर नौ तोला नहीं हो जाता। इसलिए हार की दशा के समय और बँगड़ी की दशा के समय जो सामान्यरूप दस तोला सोना है, वही सोना है। उसी प्रकार आत्मा में अज्ञानदशा, साधकदशा, केवलज्ञानदशा, सिद्धदशा इत्यादि पर्यायें हैं। तीनों काल की अवस्थायें एक समय में आ नहीं जातीं। ज्ञान में सब अवस्थायें एक साथ ज्ञात होती हैं, परन्तु भोगने में एक साथ सभी अवस्थायें नहीं आ सकती। अज्ञानदशा के समय ज्ञानदशा नहीं होती; साधकदशा के समय सिद्धदशा नहीं होती, परन्तु उन सब दशाओं के समय जो अखण्ड एकरूप स्वभाव से स्थित है, वह आत्मा है। आत्मा में जब अधूरी ज्ञानदशा हो, तब कोई एकरूप आत्मस्वभाव घट नहीं जाता और पूर्ण केवलज्ञान दशा हो, तब कहीं वह स्वभाव बढ़ नहीं जाता; इसलिए एक-एक पर्याय जितना आत्मा को न मानकर, सब पर्यायों के समय आत्मा का सामान्य एकरूप स्वभाव है, उसे मानना, वह सम्यग्दर्शन है।

कितने ही जीव ऐसा मानते हैं कि आत्मा तो शुद्धवस्तु है, इसलिए आत्मा को पर्याय होती ही नहीं—ऐसा माननेवाले तो स्थूल एकान्तवादी मिथ्यादृष्टि हैं। आत्मा में पर्याय होती ही नहीं, ऐसा यहाँ नहीं कहा जाता। प्रत्येक वस्तु में अपनी पर्याय तो होती ही हैं। रागादि विकारी पर्याय या केवलज्ञानादि निर्मल पर्याय आत्मा में होती है परन्तु अभी क्षणिक पर्याय गौण रखकर सम्यग्दर्शन के विषयभूत त्रिकाली द्रव्यस्वभाव की बात है। अपनी पर्याय में संसार दु:ख है, ऐसा जिसे भासित हो, उसे भय लगे और उससे छूटना चाहे, वह जीव अपने चैतन्यस्वभाव को समझे। परन्तु जो अपनी पर्याय को ही स्वीकार नहीं करता, अपनी पर्याय में दु:ख है, उसे नहीं जानता, वह जीव चैतन्यस्वभाव को समझने का प्रयत्न किसलिए करे ?

गुण-पर्याय, वह वस्तु का स्वभाव ही है। सभी वस्तुएँ अपने गुण-पर्याय सम्पन्न है। आत्मा वस्तु है, वह ज्ञान-सुख इत्यादि अनन्त गुणों और केवलज्ञानादि पर्यायों का पिण्ड है। तीन काल की अनन्त पर्यायें एक साथ व्यक्त नहीं होती परन्तु एक समय में एक पर्याय ही होती है। एक पर्याय को मानने से पूरा आत्मा ज्ञानगोचर नहीं होता; इसलिए क्षायिकभाव से आत्मा अगोचर है, ऐसा कहा है; और ऐसा कहकर क्षायिकभाव का लक्ष्य छुड़ाकर पूरे आत्मस्वभाव का लक्ष्य कराया है। एक-एक समय की अवस्था के समय ही पूरी वस्तु पड़ी है, इसलिए एक-एक पर्याय का विकल्प छोड़कर अखण्ड एक सहज पारिणामिकभाव को लक्ष्य में लेकर अनुभव करना, वह सम्यग्दर्शन है। आत्मा की और सम्यग्दर्शन की बातें तो बहुत जीव करते हैं, परन्तु इस प्रकार चार भाव से अगोचर आत्मस्वभाव को जिसने जाना और उपादेय माना, उसने ही वास्तव में आत्मा को जाना है और उसे ही सम्यग्दर्शन है।

औदयिक आदि चार अन्य भावों से अगोचर होने से आत्मा द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म की उपाधि से उत्पन्न विभावगुणपर्यायों से रहित है। औदयिक आदि चार भावों को यहाँ आत्मा से अन्य भाव कहा है। आत्मा का जो अनादि-अनन्त एकरूप पारिणामिकभाव है, वही आत्मा का स्वभाव है और दूसरे सभी भाव, वे अन्य भाव हैं। पर्याय के लक्ष्य से सम्यग्दर्शन नहीं होता, इसलिए यहाँ पर्याय को अन्य भाव कहा है। औदयिक आदि भावों को लक्ष्य में लेने से क्षणिक पर्याय और द्रव्यकर्म-भावकर्म नोकर्म ख्याल में आते हैं, परन्तु त्रिकाली शुद्धात्मा ख्याल में नहीं आ सकता, इसलिए त्रिकाली शुद्धात्मा द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म से रहित है, ऐसा आत्मा ही श्रद्धा करनेयोग्य है।

औदयिक आदि चार भाव क्षणिक हैं, उनके जितना आत्मा नहीं है। आठ प्रकार के जड़कर्म, वे द्रव्यकर्म हैं। चैतन्य भगवान आत्मा उन द्रव्यकर्मों से रहित है और शरीर इत्यादि नोकर्म से भी भिन्न है। यदि जड़कर्म और शरीरादि से रहित माने तो शुद्ध आत्मा ज्ञात होता है परन्तु अभी कर्म और शरीर से अपने को भिन्न नहीं मानता, उसे शुद्धात्मा की प्रतीति नहीं होती। अज्ञानी जीव शरीर और कर्मों के साथ अपना एकपना मानते हैं तथापि वे उनसे भिन्न ही हैं।

जैसे एक बड़ी अलमारी हो, उसमें एक छोटी पेटी हो, उसमें एक डिब्बी हो और उसमें मखमल बिछाकर लाखों की कीमत का एक हीरा रखा हो, वहाँ हीरा तो उन सबसे भिन्न ही है। वहाँ वह पृथक् हीरा आँख द्वारा ज्ञात नहीं होता, परन्तु यदि अपने ज्ञान में से मखमल, डिब्बी, पेटी और अलमारी—इन सबका लक्ष्य छोड़कर ज्ञान को आगे लम्बावे तो अकेला हीरा ज्ञात होता है। उसी प्रकार यह स्थूल शरीर, अन्दर के जड़कर्म और उनसे सूक्ष्म अरूपी मिथ्यात्व-रागद्वेषादि विकारी भाव तथा अधूरी दशा—इन सबसे चैतन्य चमत्कार चिन्तामणि आत्मा भिन्न है। वह भिन्नता सम्यग्ज्ञान से ज्ञात होती है। परपदार्थ और विकारीभावों को आत्मा न मानकर, अपने ज्ञान को एक चैतन्यस्वभाव की ओर लम्बाकर देखे तो शुद्ध चैतन्यस्वभाव विकार से और कर्मों से भिन्न अनुभव में आता है। शुद्ध आत्मा विभावगुण-पर्यायों से रहित है। मतिज्ञान इत्यादि अपूर्णदशा को विभावगुण कहा जाता है और मनुष्यादिरूप व्यंजनपर्यायों को विभावपर्याय कहा जाता है। उनसे आत्मा भिन्न है।

ऐसा अपना शुद्धात्मा किस प्रकार ज्ञात होता है? बाहर की क्रिया के शुभराग से आत्मा समझ में नहीं आता परन्तु अन्दर में ज्ञान की क्रिया से समझ में आया? सच्चे ज्ञान द्वारा आत्मा पहिचाना जाता है। सच्चे ज्ञान के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय करने से आत्मा समझ में नहीं आता। जैसा सत्यस्वरूप है, वैसा अपने ज्ञान में स्वीकार करने से सत् प्रगट होता है, परन्तु स्वरूप को दूसरे प्रकार से मानने से सत् प्रगट नहीं होता। अज्ञानी जीव असत्य को सत्य मानकर उसका सेवन करे, इससे कहीं उन्हें सत्यधर्म प्रगट नहीं होता और जो सत्यस्वरूप है, वह विपरीत नहीं हो जाता। आत्मा का सत्यस्वरूप कैसा है अर्थात् कि त्रिकाली स्वभाव कैसा है? उदयादि चार भावों से अगोचर है। द्रव्यकर्म-भावकर्म-नोकर्म की उपाधि से रहित है और विभावगुणपर्यायों से रहित है। इतनी बात नास्ति अपेक्षा से की। अब अस्ति अपेक्षा से कहते हैं।

अनादिनिधन अमूर्त अतीन्द्रियस्वभावरूप शुद्ध सहज परमपारिणामिकभावस्वरूप कारणपरमात्मा है—ऐसा यह आत्मा है। वही भव्य जीवों को उपादेय है। ऐसे आत्मा को जानना-मानना, वह मोक्ष का उपाय है।

आत्मा का एकरूप स्वभाव अनादि-अनन्त है। उपशम आदि चारों भाव पर्यायरूप

होने से आदि-अन्तसहित है। और आत्मा अमूर्तिक और अतीन्द्रिय है। इन्द्रियाश्रित ज्ञान द्वारा वह ज्ञात हो, ऐसा नहीं है। शुद्ध सहज परमपारिणामिकभावस्वरूप कारणपरमात्मा है, वही 'शुद्धभाव' है, वही उपादेय है। यहाँ तो कहा कि आत्मा त्रिकाल शुद्ध है ही। अशुद्धता का नाश करके शुद्धता प्रगट करना, वह तो अवस्था है। परन्तु आत्मा त्रिकाल स्वभाव से शुद्ध ही है, अशुद्धता टालना और शुद्धता प्रगट करना, ऐसे दो भंग उसमें नहीं हैं। शुद्ध सहजस्वभावी पारिणामिकभावस्वरूप एकरूप कारणसमयसार परमात्मा—ऐसा अपना आत्मा है, उसके लक्ष्य से मोक्षमार्ग प्रगट होता है; उसके लक्ष्य के अतिरिक्त सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप निर्मल अवस्था प्रगट नहीं होती। जो पूरा स्वभाव है, उसके ऊपर लक्ष्य न करे और अधूरे को ही माने, उस जीव को श्रद्धा-ज्ञान सच्चे नहीं होते अर्थात् कि उसे धर्म नहीं होता।

'यह बात एकदम पूर्ण दशा के पुरुषार्थ को पहुँच जाने की है, और अपने से वह हो सके, ऐसा नहीं है'—ऐसा नहीं समझना। क्योंकि अभी तो धर्म की शुरुआत कैसे हो, उसकी बात है। पूर्ण दशा का पुरुषार्थ न हो सके तो भी वर्तमान जो पूरा स्वभाव है और जिसमें से पूर्ण दशा प्रगट होती है, उस स्वभाव को श्रद्धा-ज्ञान में स्वीकार करने की बात है। धर्म करने के लिये अपने आत्मा को श्रद्धा-ज्ञान में स्वीकार तो करना चाहिए न!

यहाँ तो अपनी आत्मा को समझने की ही बात है, दूसरी किसी बात की मुख्यता नहीं करते, क्योंकि सब तत्त्वों में एक शुद्ध आत्मतत्त्व ही उपादेय है। आत्मतत्त्व की बात अपने घर की है, क्योंकि स्वयं ही आत्मतत्त्व है, उसे पहिचानने से ही धर्म होता है। भले अल्पबुद्धि हो परन्तु यदि अपने आत्मा की महिमा करके समझना चाहे तो अवश्य समझ में आये, ऐसा वस्तुस्वरूप है।

अहो! आत्मतत्त्व की सच्ची बात सुनने मिलना दुर्लभ है। जैसे गुड़ की और अनाज इत्यादि की दुकानें तो गाँव में बहुत होती हैं और उसके लेनेवाले भी बहुत होते हैं परन्तु सच्चे हीरे की दुकान तो कोई ही होती है और हीरा लेनेवाले भी थोड़े ही होते हैं। उसी प्रकार इस चैतन्यतत्त्व की बात महँगी है। पुण्य इत्यादि में धर्म मानने की बात तो जगत में सर्वत्र चलती है और वह बात माननेवाले बहुत जीव होते हैं, परन्तु शुद्ध

चैतन्यतत्त्व की बात जगत में सर्वत्र नहीं होती और उसे समझनेवाले भी विरल जीव होते हैं। जिसे अपने आत्मा का हित करना हो—कल्याण करना हो और अनन्त जन्म-मरण के दुःखों से छूटकर मुक्ति प्राप्त करनी हो, उसे ऐसा आत्मस्वभाव समझना ही पड़ेगा। अपने सहज शुद्ध आत्मा को समझकर—श्रद्धा करके उसमें स्थिर होना, वही मुक्ति का उपाय है।

जो आत्मतत्त्व को नहीं समझे, ऐसे अज्ञानी जीवों को समझाने के लिये आचार्यदेव ने प्रयत्न किया है, इसलिए मुझे नहीं समझ में आता, ऐसा मानकर उसका प्रयत्न छोड़ नहीं देना।

कितने ही अज्ञानी जीव ऐसा मानते हैं कि सबके अधिष्ठान (-आधार) रूप कोई महान शक्तिवाला ईश्वर है। उनकी यह मान्यता मिथ्या है। हे भाई! तेरे स्वभाव से भिन्न कोई तेरा अधिष्ठाता नहीं है। तेरा त्रिकाली स्वभाव अनन्त शक्तिवाला ईश्वर है, वही तेरी केवलज्ञानादि सर्व अवस्थाओं का अधिष्ठाता है। शुद्धकारणपरमात्मा ही आदरणीय है, क्षायिकभाव भी आदरणीय नहीं तो पुण्य-परिणाम तो कहीं रहे और पापपरिणाम की तो बात ही क्या! और शरीर की क्रिया से धर्म होगा, यह बात तो कहीं की कहीं उड़ गयी। 'स्वात्मानुभव मनन' में तो कहा है कि—जिसे ज्ञानी-अज्ञानी या केवलज्ञानी भी नहीं जान सके, ऐसा मैं हूँ। यद्यपि ज्ञानी और केवलज्ञानी तो शुद्ध कारणपरमात्मा को जानते हैं, परन्तु उस ज्ञानीदशा या केवलज्ञानदशा में पूरा आत्मा नहीं आता, इसलिए 'वे आत्मा को जानते ही नहीं', ऐसा कहकर त्रिकाली स्वभाव कारणसमयसार की महिमा की है। अखण्डानन्दस्वरूप परिपूर्ण निरपेक्ष तत्त्व कारणपरमात्मा मैं हूँ और वही मुझे उपादेय है—ऐसी श्रद्धा करना, ज्ञान करना और उसमें लीन होना, वह शुद्धभाव है और वह मोक्ष का उपाय है।

★★★★★

श्री समवसरण प्रतिष्ठा का वार्षिक महोत्सव दिन

व्याख्यान नं. २४, ज्येष्ठ कृष्ण ६, रविवार (गाथा ३८ चालू)

यह नियमसार शास्त्र का वाँचन होता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग, वही नियमसार है, वही अवश्य करनेयोग्य कर्तव्य है।

यह आत्मा अनादि से है, नया नहीं। अनादि काल से उसका मोक्ष कभी हुआ नहीं। यदि पूर्व में कभी मोक्ष हुआ होता तो अभी यह संसार नहीं होता। जीव अपने अशुद्धभाव से बँधा हुआ है, कर्म ने उसे नहीं बाँधा है। जीव का स्वभाव पुण्य-पापरहित शुद्ध ज्ञायक है; उस स्वभाव को न मानकर विकार को अपना कर्तव्य मानना, वह अशुद्धभाव है और उस अशुद्धभाव से ही जीव बँधा है। शरीर-मन-वाणी या आठ कर्म तो जड़ हैं, आत्मा वस्तु उनसे भिन्न है। वे शरीरादि परपदार्थ मेरे अथवा मैं उनका कुछ कर सकता हूँ—ऐसी मान्यता, वह स्थूल मिथ्यात्व है; और आत्मा की पर्याय में क्षण-क्षण में जो पुण्य-पाप की वृत्ति होती है, उसे अपना स्वरूप मानना, वह भी मिथ्यात्व है। अपने मूल चैतन्यस्वरूप के अभान में, उस मिथ्यात्व के कारण ही जीव अनादि काल से बँधा हुआ है। अपने आत्मा को कैसे स्वभाव से पहिचानने से शुद्धभाव प्रगट होता है और बन्धन टलता है—यह श्री आचार्यदेव बतलाते हैं।

आत्मा चैतन्यमूर्ति शुद्धस्वरूप है; किसी भी पुण्य-पाप की वृत्ति को जो अपना स्वभाव मानता है, उस जीव को अपने स्वभाव की खबर नहीं है। भले जिनशासन की भक्ति-पूजा स्वाध्याय इत्यादि शुभपरिणाम करता हो, परन्तु जिसे अपने त्रिकाली शुद्धस्वरूप की खबर नहीं, उस जीव को धर्म नहीं होता।

पाप और पुण्य इन दोनों से भिन्न अपना स्वरूप है, उसे नहीं जाना और पुण्य-पाप, वही मेरा कर्तव्य है—ऐसा माना। इस विपरीत मान्यता से ही जीव बँधा है। दया, दान, पूजा, भक्ति के परिणाम, वे सब शुभरागभाव है और हिंसा, चोरी इत्यादि के परिणाम, वे अशुभभाव है, वे दोनों विकारी भाव हैं, उनसे आत्मा को कोई लाभ नहीं है।

पुण्यभाव से आत्मा को धर्म उघड़ता है, ऐसा माननेवाले मिथ्यादृष्टि हैं। पुण्य तो

विकार है और धर्म विकाररहित आत्मा का स्वभाव है। आत्मा के शुद्ध चैतन्य एकरूप स्वभाव को समझे बिना पुण्य को धर्म मान लेना, वह मिथ्यात्व है। उस मिथ्यात्व के कारण जीव अनन्त संसार में भटकता है। अनन्त बार पूजा-भक्ति की, अनन्त बार व्रत, तप किये और उनके फल में अनन्त बार स्वर्ग में गया, परन्तु उससे आत्मा को जरा भी धर्म या सुख नहीं हुआ।

आत्मा का त्रिकाल एकरूप सहज चैतन्यस्वभाव है, उसकी श्रद्धा करना, वह त्रिकाली सत्य का आदर है; और 'मैं जड़पदार्थों का कुछ कर दूँ या पुण्य से आत्मा को धर्म होता है' ऐसी उल्टी श्रद्धा में त्रिकाली झूठपने का आदर है, वही अधर्म है। धर्मी जीव के अभिप्राय में आदर करनेयोग्य क्या है और छोड़नेयोग्य क्या है, वह इस गाथा में आचार्यदेव बतलाते हैं।

जो जीव पर के कारण आत्मा को बन्धन मानता है, वह तो महामिथ्यादृष्टि है। कोई जीव 'मेरी पर्याय में मेरे दोष के कारण ही बन्धन होता है, पर के कारण मुझे बन्धन नहीं होता'—ऐसा माने, परन्तु उस क्षणिक बन्धभाव को ही माना करे और बन्धनरहित अपने त्रिकाली स्वभाव की श्रद्धा न करे तो उसे धर्म नहीं होता। मैं सहज कारणपरमात्मा हूँ, एकरूप शुद्ध ज्ञायक हूँ, पुण्य-पाप मुझमें नहीं है, इन्द्रिय-मन से पार हूँ और रागादि से भी पार हूँ—ऐसे अपने स्वभाव की पहिचान किये बिना अनन्त काल तक व्रत-तप करके सूख जाये तो भी आत्मा की शान्ति जरा भी नहीं होती। और जन्म-मरण का अन्त नहीं आता। इसलिए शुद्ध आत्मस्वरूप बताकर आचार्यदेव कहते हैं कि अत्यन्त आसन्न भव्य जीवों को ऐसे निज परमात्मा के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी उपादेय नहीं है।

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव मूलसूत्रकर्ता हैं और श्री पद्मप्रभमलधारि मुनिराज टीकाकार हैं; वे निर्ग्रन्थ सन्त थे, मुख्यरूप से तो आत्मस्वरूप के अनुभव में लीन रहते थे। वहाँ शुभविकल्प उठने पर इस टीका की रचना हो गयी। अहो! कितनी अद्भुत टीका हुई है! मुनिराज को अन्तर में भान है कि यह शब्द लिखने की क्रिया जड़ की है और जो शुभविकल्प उठा है, वह मेरा स्वरूप नहीं है तथा वह मेरे धर्म में सहायक नहीं है। टीका के वाच्यरूप शुद्धात्मा का बारम्बार निर्विकल्प अनुभव स्वयं करते हैं। निस्पृह करुणाबुद्धि से कहते हैं कि—अरे प्राणियों! आत्मा का शुद्धस्वभाव समझे बिना अनन्त

काल में दूसरे सब भाव किये हैं; वे कोई भाव उपादेय नहीं हैं, आत्मा का निश्चयस्वभाव ही उपादेय है। ऐसी तुम श्रद्धा करो।

निश्चय और व्यवहार क्या है, यह जीव ने कभी जाना नहीं। आत्मा का त्रिकाली शुद्ध परमात्मस्वभाव, वह निश्चय है और जितने क्षणिकभाव हैं, वे सब व्यवहार हैं। अनादि से जीव ने व्यवहार की ही श्रद्धा की है, परन्तु अपने निश्चयस्वरूप को नहीं माना, इसीलिए जीव संसार में भटकता है। इस संसार से छूटने के अभिलाषी जीवों को क्या करना, वह आचार्यदेव समझाते हैं। भगवान आत्मा त्रिकाल ज्ञान-आनन्द से भरचक है, उस आत्मतत्त्व को जिसे प्राप्त करना है—जिसे पूर्ण पवित्र मोक्षदशा प्रगट करनी है और जन्म-मरण का अन्त लाना है, ऐसे निकट भव्य जीव को अपना परमात्मस्वरूप ही आदरणीय है, इसके अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु या कोई भाव आदरणीय नहीं है।

अहो! अपनी पर्याय जितना अपना स्वरूप मानना, वह भी मिथ्यात्व है, तो फिर मैं पुण्य-पाप का कर्ता हूँ, मैं जड़ शरीर की क्रिया का कर्ता हूँ और घर इत्यादि का कर्ता हूँ—ऐसा मानना वह तो महा झूठी बुद्धि है। आत्मा पर का कर नहीं सकता। कारीगर ने मकान बनाया—ऐसा मानना, वह महामिथ्यात्व है।

प्रश्न—यदि कारीगर ने मकान नहीं बनाया तो क्या मकान अपने आप हुआ?

उत्तर—हाँ भाई! सत्यस्वरूप ऐसा ही है। मकान के प्रत्येक पत्थर उसकी अपनी योग्यतानुसार ही व्यवस्थित हुए हैं। जड़वस्तु में भी उसकी हालत होने की योग्यता है। जड़ की क्रमसर अवस्था उसके अपने कारण से होती है। उसमें दूसरा जीव ऐसा माने कि मैंने यह किया—तो वह जीव मिथ्याबुद्धिवाला है। यह बात लोगों को विचित्र लगती है, परन्तु यही यथार्थ सिद्धान्त है। यह कोई पागलपने नहीं कहा जाता, परन्तु वीतरागदेव का अपूर्व धर्म कहा जाता है। विश्व के पदार्थमात्र का परिणमन स्वतन्त्र है। यह समझे बिना धर्म नहीं होता।

जीव अनन्त काल से धर्म का स्वरूप ही समझा नहीं, तो धर्म का आचरण तो कहाँ से करे? पूर्व में अनन्त काल में जो किया, वह मात्र पर का अभिमान किया है। 'मैंने जिनमन्दिर बनाया, मैंने पुस्तक बनायी और मैंने भक्ति-पूजा इत्यादि के जो भाव

किये, वह धर्म के आचरण हैं' ऐसा अज्ञानी मानता है। परन्तु वह तो सब मिथ्यात्व के और राग के आचरण हैं, उसमें धर्म नहीं।

जीव जो कुछ क्रिया करे, वह मात्र अपने आत्मक्षेत्र में कर सकता है। अपने से बाहर में जीव क्या कर सकता है ? बाहर की जो क्रिया हो, उसे आत्मा मात्र जानता है, परन्तु उसमें कुछ कर नहीं सकता। अज्ञानी जीव अपने में शुभ या अशुभभाव करके उसका कर्ता होता है, वह अधर्म है। और ज्ञानी जीव अपने शुद्ध आत्मतत्त्व को जानते हुए, उस विकार का कर्ता नहीं होता, वह धर्म है। जीव शुभराग करके यदि उसे कर्तव्य माने तो उसमें मिथ्यात्वरूप अनन्त पाप साथ में बँधता है। इस प्रकार जीव अपने अन्तर अभिप्राय में धर्म या अधर्म करता है। ज्ञानी या अज्ञानी कोई जीव बाहर में कुछ नहीं करता।

यह बात जगत से उल्टी है। पूरा जगत बाहर के अभिप्राय में अटका हुआ है। वह अभिमान कब टले और धर्म कैसे हो, यह बात चलती है। यह अधिकार तो अलौकिक है। शुद्धात्मस्वभाव की बहुत स्पष्ट बात आयी है। श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने मूलसूत्रों में जो गूढ़ रहस्य भरा है, वह रहस्य पद्मप्रभमलधारिदेव ने टीका में खुल्ला करके अपूर्व अध्यात्म वस्तुस्वरूप स्पष्ट किया है।

जिसे धर्म करना हो, उसे आत्मा क्या चीज़ है, यह जानना चाहिए। पहले अधिकार में शुद्ध जीवतत्त्व का बहुत वर्णन किया है। ऐसे शुद्ध जीवतत्त्व को उपादेय करने से शुद्धभाव प्रगट होता है, वही धर्म है। इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि—जो अत्यन्त निकट भव्य जीव है, जिसे बन्धन से छूटना है और आत्मस्वभाव की प्रगट प्राप्ति करना है, उसे निश्चयकारणपरमात्मारूप शुद्ध जीवतत्त्व ही आदरनेयोग्य है।

धर्मी जीव किसे कहना ?

(१) जड़ पदार्थों का काम मैं कर सकता हूँ, ऐसा जो मानता है, वह जीव धर्मी नहीं है।

(२) शरीर की क्रिया मैं कर सकता हूँ, ऐसा जो मानता है, वह जीव धर्मी नहीं है।

(३) जड़कर्म का उदय मुझे विकार कराता है, ऐसा जानता-मानता है, वह जीव धर्मी नहीं है।

(४) आत्मा की दशा में दया, दान, पूजा, भक्ति इत्यादि जो पुण्यभाव होते हैं, वह मेरा स्वरूप है—ऐसा जो माने, वह जीव धर्मी नहीं है।

(५) आत्मा में जो उपशम इत्यादि सम्यग्दर्शन या केवलज्ञान इत्यादि अवस्था है, वह एक समयमात्र की है, उसके जितना आत्मा को जो मानता है, वह जीव धर्मी नहीं है।

(६) जड़ से भिन्न, विकार से भिन्न और एक समयमात्र की अवस्था की अपेक्षा से रहित जो सहज परमपारिणामिक चैतन्यतत्त्व है, उसकी जो श्रद्धा करे, वह जीव धर्मी है। वह जीव अत्यन्त निकट भव्य है।

जिस जीव को अपना सिद्धपद प्रगट करना हो, उसे अपने निज परमात्मा के अतिरिक्त कोई उपादेय नहीं है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, वह भी उपादेय नहीं, क्योंकि वह क्षणिक अवस्था है, अवस्थादृष्टि से सम्यग्दर्शन नहीं होता। आत्मवस्तु त्रिकालवर्ती है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र या मोक्ष, ये सभी भाव एकसमयवर्ती हैं; कोई भी अवस्था एक ही समयमात्र की है, दो अवस्थायें कभी इकट्ठी नहीं होती और एक अवस्था कभी दो समय नहीं टिकती, परन्तु द्रव्यस्वभाव तो जब देखो, तब पूरा-पूरा वर्तमान हैं, इसलिए उसकी ही श्रद्धा करनेयोग्य है।

जैसे लहरें उठें, उन लहर जितना ही पानी नहीं है, पानी तो शीतलता इत्यादि अनेक स्वभाव से भरपूर सत्त्व है। उसी प्रकार आत्मा वस्तु है, उसमें एक समय में एक गुण की एक अवस्था होती है। वह एक अवस्था टलने के पश्चात् दूसरी अवस्था प्रगट होती है, उस एक-एक अवस्था जितना आत्मतत्त्व नहीं है, परन्तु त्रिकाल पूरा और अनन्त गुण के स्वभाव से भरपूर सत्त्व, वह आत्मा है। उसमें अनन्त केवलज्ञानदशा प्रगट होने की शक्ति है। ऐसे अपने आत्मा को पहिचानकर उसकी महिमा करना, वह मुक्ति का उपाय है।

आत्मस्वरूप पहिचानकर धर्म कैसे हो, यह बात चलती है। धर्म कहीं बाहर में

से प्रगट नहीं होता, परन्तु अन्तर में त्रिकाल पूरा आत्मा है, उसकी श्रद्धा-ज्ञान करके उसमें रमणता करने से अशुद्धभाव टलता है और शुद्धभाव प्रगट होता है, वह धर्म है। बाहर में कुछ करने की मान्यता, वह अधर्म है। शुभराग हो, वह अलग बात है परन्तु उससे लाभ मानना अथवा तो उसे निश्चय का साधन मानना, वह मिथ्यात्व है, अज्ञान है।

आत्मा चैतन्यमूर्ति अनन्त गुण का पिण्ड है, उसके स्वभाव में दोष है ही नहीं। क्षणिकपर्याय में दोष है, परन्तु त्रिकाली चैतन्यस्वरूप में वह नहीं है। शरीर-मन-वाणी की कोई क्रिया या विकारी क्रिया, वह आत्मस्वरूप नहीं है; सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप जो निर्मल अवस्था है, उसके जितना भी आत्मस्वरूप नहीं है और पूर्ण पवित्र सिद्धदशा प्रगट हो, वह भी एक समय ही टिकनेवाली दशा है। वह ऐसी की ऐसी भले अनन्त काल रहे, परन्तु उस अवस्था की मौजूदगी का काल तो एक समय ही है, इसलिए उसका आश्रय नहीं हो सकता; उस सिद्धपर्याय जितना भी आत्मा नहीं है। इसलिए अत्यन्त आसन्न भव्य जीवों को उन सबका आश्रय छोड़कर एक क्षण में त्रिकाली सामर्थ्य से भरपूर शाश्वत् एकरूप सहज चिदानन्द आत्मस्वरूप का ही आश्रय करनेयोग्य है। उसके आश्रय से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और मोक्षदशा सहज हो जाती है; पर्याय के आश्रय से सम्यग्दर्शनादि नहीं होते।

जो कभी न बदले, ऐसा सच्चा आत्मस्वरूप क्या है? वही कहा जाता है। तीन काल-तीन लोक में सत्य वस्तुस्वरूप को बदल सके, ऐसा कोई प्राणी नहीं है। सत्य को कोई जीव उल्टी रीति से माने तो इससे उस जीव को अपने भाव में विपरीतता होती है, परन्तु कोई त्रिकाली सत् स्वभाव बदल नहीं जाता। अपने त्रिकाल एकरूप सत्स्वभाव को स्वीकार करना, वह मोक्ष का पन्थ है। क्षणिक भावस्वरूप अपने को न स्वीकार कर, पूरे गुणस्वभाव स्वीकार कर, वह पूरा स्वभाव ही ग्रहण करनेयोग्य है। अत्यन्त निकट भव्य जीवों को अर्थात् कि अल्प काल में सिद्ध होनेवाले जीवों को अपने आत्मा को निर्बल-पराधीन-विकारी या अपूर्ण नहीं मानना परन्तु पूर्ण परमात्मस्वरूप मैं हूँ— ऐसी श्रद्धा करके उसका ही आदर करना—उसमें ही लीन होना। पूर्ण दशा प्रगट होने से पहले अवस्था में रागादि विकार होता है, उसके अस्तित्व की ना नहीं है, परन्तु उस

राग के आदर से धर्म नहीं होता। धर्मी जीव की दृष्टि उस राग पर या अपूर्णता पर नहीं होती। शुभराग करते-करते उससे परम्परा से धर्म होगा, ऐसा जो मानता है, वह जीव राग को उपादेय मानता है, परन्तु रागरहित शुद्ध ज्ञानस्वभाव को उपादेय नहीं मानता; इसलिए वह मिथ्यादृष्टि ही है। ज्ञानी अपने सहजशुद्ध आत्मतत्त्व की दृष्टि में राग को स्वीकारते ही नहीं; इसलिए उन्हें जो राग होता है, वह हेयबुद्धि से है। 'मुझे मेरा शुद्धस्वरूप ही उपादेय है। शुभराग हो, वह मेरा कर्तव्य नहीं।' ऐसी धर्मदृष्टि के कारण धर्मी जीव को शुद्धस्वभाव सन्मुख ही परिणमन बढ़ता जाता है और रागादि अशुद्धता टलती जाती है। शुद्ध आत्मा की श्रद्धा कोई पुण्यभाव द्वारा नहीं हो सकती, परन्तु शुद्धभाव से ही होती है। अपने शुद्धस्वभाव का निश्चय करो तो शुद्धभाव प्रगट होता है और मुक्ति होती है।

आत्मा में शुभराग करते-करते धर्म होगा, ऐसा माननेवाले जीव को वीतरागस्वभाव का आदर नहीं है परन्तु राग का आदर है। वह वीतराग का भक्त नहीं, मिथ्यादृष्टि है। जिसने विकार को कर्तव्य माना, वह जीव पाखण्डी-अधर्मी है। पुण्य करने से धर्म में आगे नहीं बढ़ा जा सकता, परन्तु पुण्यरहित शुद्ध आत्मस्वभाव है, पहले उसकी श्रद्धा करने से ही आगे बढ़ा जा सकता है। स्वभाव का आदर और आश्रय करते-करते ही वीतरागता और केवलज्ञान होता है। चिदानन्दस्वभाव की श्रद्धा ही आगे बढ़ने का मूल उपाय है। जो राग होता है, वह वीतरागता का मार्ग नहीं है, वस्तु का धर्म नहीं है। श्री तीर्थंकर भगवन्तों ने अपने परम आत्मस्वभाव को पहिचानकर उसके ही आश्रय से पूर्ण मुक्तदशा प्रगट की है। जो अनादि स्वभाव मार्ग है, उस मार्ग को अनुभव कर स्वयं पूर्ण हुए और दिव्यध्वनि द्वारा वह मार्ग जगत को दिखलाया। अनन्त काल में चाहे तब एक इसी मार्ग से मुक्ति प्राप्त होती है।

'आत्मा का जो यथार्थ स्वभाव है, वह न समझ में आये, इसलिए पहले से जो करते हैं, वही किया करो'—ऐसा अज्ञानी मानते हैं। उसका अर्थ यह हुआ कि अनादि से जो अज्ञानभाव करता आता है, वही चालू रखना है और स्वभाव समझना नहीं; अनादि से जिस प्रकार संसार में भटका है, उसी प्रकार संसार में भटकते रहना है। भाई रे! अनादि से जो भाव कर-करके तू संसार में भटकता है, उससे अत्यन्त अलग जाति

का धर्म का मार्ग है। इसलिए यह समझ तो तेरा उद्धार होगा। जो उपाय है, उसे जाने बिना सत्यमार्ग हाथ नहीं आयेगा।

स्वयं कारणपरमात्मा है। सम्यग्दर्शन या केवलज्ञान तो कार्य है, वह कार्य नया प्रगट होता है। वह कार्य प्रगट हुए पहले भी उसके कारणरूप त्रिकाल शक्ति है; उस कारणपरमात्मा के आश्रय से ही धर्म है; पुण्य-पाप या निर्मल पर्याय के आश्रय से धर्म नहीं है।

प्रश्न—क्या सम्यग्दर्शन पर्याय के आश्रय से भी धर्म नहीं है?

उत्तर—सम्यग्दर्शन कोई त्रिकाली स्वभाव नहीं है, वह भी क्षणिक पर्याय है। यदि उस पर्याय का आश्रय (-लक्ष्य, एकता) करने जाए तो पर्यायदृष्टि होती है। पर्यायदृष्टि, वह मिथ्यात्व है। सम्यग्दर्शन पर्याय स्वयं धर्म है परन्तु उसे आश्रय तो त्रिकाली स्वभाव का ही है।

अहो! आत्मा का अपना स्वभाव ही प्रभु है, महिमावाला है। जीव ने अपने स्वभाव की प्रभुता कभी उत्साह से सुनी नहीं और स्वीकार नहीं की। यदि ज्ञानी के निकट सुनकर एक बार भी अपनी प्रभुता की महिमा पहिचाने तो स्वयं प्रभु हुए बिना रहे ही नहीं। जीव जहाँ गया, वहाँ इसने पुण्य की और पराश्रय की बात सुनी है और उसमें धर्म माना है, परन्तु वह पुण्य तो क्षणिक विकार है, उसके अतिरिक्त त्रिकाली चिदानन्द आत्मा है, उसे लक्ष्य में लेना, वह सम्यग्दर्शन है। देखो तो सही! स्वयं ही परमात्मा है। उसे तो मानता नहीं और बाहर में भटकता है। आचार्य भगवान फरमाते हैं कि मुमुक्षुओं को अपने परमात्मा को छोड़कर दूसरी कोई वस्तु उपादेय नहीं है। अभी ही मैं कृतकृत्य परिपूर्ण हूँ। मोक्षदशा नहीं और प्रगट करूँ—ऐसे दो प्रकार मेरे एकरूप स्वरूप में नहीं पड़ते हैं—ऐसी अन्तर्दृष्टि बिना जीव का कल्याण नहीं होगा। शुद्धात्मस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान होने पर भी निचलीदशा में अस्थिरता के कारण शुभराग होता है। यदि निचलीदशा में शुभ छोड़े तो उल्टे पाप होगा। परन्तु इससे ऐसा नहीं समझना कि शुभराग अच्छा और करनेयोग्य है। यदि शुभराग को अच्छा माने तो मिथ्यात्व है। श्रद्धा-ज्ञान में अच्छा मानकर आदरनेयोग्य तो एक परमात्मस्वरूप ही है।

प्रश्न—यदि शुभराग से धर्म नहीं होता तो फिर उसकी आवश्यकता क्या है? शुभ करना ही नहीं!

उत्तर—भाई रे! किसने कहा कि शुभराग की आवश्यकता है? यदि शुद्ध आत्मस्वभाव की श्रद्धा और स्थिरता करके शुभ छोड़ देगा, तब तो वीतरागता होगी। वह तो उत्तम है। केवली भगवान को शुभभाव होते ही नहीं। परन्तु जिसे अभी रागरहित स्वरूप स्थिरता प्रगट नहीं हुई और रागवाली भूमिका में रहा है, उस जीव को या तो शुभराग होता है और या तो अशुभराग होता है। रागी जीव यदि शुभराग छोड़ेगा तो उसे अशुभराग ही होगा। उस अशुभ से बचने के लिये धर्मी जीव को भी शुभराग होता है। परन्तु वे राग को करनेयोग्य नहीं मानते।

प्रश्न—शुभराग का फल क्या है?

उत्तर—राग का फल संसार है। शुभराग से पुण्य बँधता है और पुण्य से संसार मिलता है परन्तु पुण्य से धर्म नहीं होता। अज्ञानी जीव शुभराग को ही आदरणीय मानता है, इसलिए मिथ्यात्व का पोषण करके वह निगोद में जाता है। और ज्ञानी जीव शुद्ध आत्मस्वभाव को ही आदरणीय मानता है और राग को हेय समझता है, इसलिए वह स्वभाव का आदर करते-करते, राग का अभाव करके अल्प काल में सिद्ध परमात्मा हो जाता है। शुद्ध चैतन्यस्वभाव वह मैं, पुण्य-पाप वह मैं नहीं—ऐसी श्रद्धापूर्वक वर्तमान में जितना राग टला, उतना धर्म है और जो राग रहा, उसका ज्ञानी को निषेध है। साधक जीव को निचलीदशा में राग सर्वथा नहीं छूट सकता परन्तु राग में उपादेयबुद्धि छूट सकती है। राग हो, उसे अपना स्वरूप मानना या नहीं मानना, वह श्रद्धा के आधार से है। यदि राग को अपना स्वरूप माने तो मिथ्याश्रद्धा है, वही अधर्म है और रागरहित अपने चैतन्यस्वरूप को माने तो सम्यक्श्रद्धा है, वह धर्म है।

आत्मा के स्वभाव में तो शुद्धता और वीतरागता ही भरी है। यदि स्वभाव को उपादेय समझकर उसका आश्रय करे तो शुद्धता और वीतरागता ही प्रगट होती है। आत्मा में पुण्य-पाप भरे नहीं हैं, वे तो पराश्रय से नये उत्पन्न होते हैं। जैसे पानी के कुएँ में से तो मीठे पानी का ही प्रवाह आता है परन्तु यदि वह पानी काली जीरी में से निकलता है तो कड़वा हो जाता है। परन्तु इससे कहीं कुआँ कड़वा नहीं हो जाता। उसी

प्रकार आत्मा तो शुद्ध चैतन्य अमृत से ही भरा हुआ है, परन्तु उस स्वभाव को भूलकर स्वयं पराश्रय से परिणमता है, इसलिए पर्याय स्वयं विकारी होती है। परन्तु कोई मूलस्वभाव विकारी नहीं हो गया। इसलिए ज्ञानी कहते हैं कि हे जीव! तू तेरे मूलस्वभाव को देख, क्षणिक विकार को न देख। त्रिकाली स्वभाव को देखने से ही शुद्धता प्रगट होती है और अशुद्धता टलती है। अशुद्धता को ही देखा करे और अशुद्धता को ही अपना स्वरूप माना करे तो कभी अशुद्धता टलेगी नहीं और शुद्धता होगी नहीं। तेरे सहजस्वभाव में पुण्य-पापरूप अशुद्धता है ही नहीं। उस स्वभाव को यदि उपादेय माने तो पर्याय में से भी अशुद्धता टल जायेगी और मुक्ति प्रगट होगी।

प्रश्न—शुभभाव के साथ क्रिया है, उससे तो धर्म होगा न?

उत्तर—अरे भाई! कौन सी क्रिया? प्रथम तो शुभभाव स्वयं ही विकारी क्रिया है। उससे धर्म होगा नहीं और शरीर की बैठने इत्यादि की क्रिया आत्मा की नहीं है। जड़ की क्रिया से तीन काल में आत्मा का धर्म नहीं हो सकता। शरीर की क्रिया मैं करता हूँ और उससे मुझे धर्म होता है, ऐसी मान्यता के कारण जीव को मात्र अधर्म होता है।

अज्ञानी जीव, शरीर की क्रिया होती है, उसे धर्म की क्रिया मानते हैं; परन्तु वह तो जड़ की क्रिया है। अन्तर में जो शुभभाव होता है, वह जीव की विकारी क्रिया है, उससे धर्म नहीं है। शरीर की जो अवस्था होती है, वह जड़ की क्रिया है; आत्मा में पुण्यभाव हो, वह आत्मा की विकारी क्रिया है और जड़ से तथा विकार से भिन्न ज्ञातास्वभाव वह मैं हूँ—ऐसी श्रद्धा-ज्ञान करना, वह धर्म की क्रिया है। ज्ञानी जीव चैतन्यस्वभाव को उपादेय जानता है, राग हो, उसका स्वामी नहीं होता और शरीर की क्रिया अपने आधीन नहीं मानता। इसमें व्यवहार उड़ नहीं जाता परन्तु इसमें ही सच्चा व्यवहार आता है।

प्रश्न—इसमें किस प्रकार का व्यवहार आया?

उत्तर—त्रिकाली शुद्धस्वभाव, वह निश्चय है और उसके आश्रय से जो निर्मल पर्याय प्रगट हुई, वह व्यवहार है। शुभराग, वह सच्चा व्यवहार नहीं। (सच्चा व्यवहार अर्थात् शुद्ध सद्भूतव्यवहार, ऐसा यहाँ समझना)। मैं त्रिकाल परमशुद्धस्वभाव हूँ, ऐसे

निश्चयस्वभाव के श्रद्धा-ज्ञान के जोर से जो शुद्धता प्रगट हुई और राग टला, वही व्यवहार है। त्रिकाल एकरूप अभेदस्वरूप, वह निश्चय है। उस निश्चय के आश्रय बिना निर्मल पर्यायरूप व्यवहार नहीं हो सकता। आत्मा का व्यवहार जड़ में नहीं होता। यहाँ तो विकार, वह भी वास्तव में चैतन्य का व्यवहार नहीं है। त्रिकाली चैतन्यद्रव्य, वह निश्चय है और उस चैतन्य की जो निर्मल पर्याय, वही उसका व्यवहार है। यह व्यवहार सिद्धदशा में भी होता है। देखो! यह व्यवहार स्थापित किया जाता है या उत्थापित किया जाता है? परन्तु इस व्यवहार के लक्ष्य से धर्म नहीं होता; धर्म तो शुद्ध निश्चयस्वरूप के ही लक्ष्य से होता है।

किस क्रिया से मोक्ष होता है? मैं जड़ की क्रिया का तो करनेवाला नहीं, विकार का कर्ता भी नहीं, मोक्षमार्ग की अवस्था जितना भी मैं नहीं। सदा एकरूप पूरे ज्ञानस्वभाव से मैं हूँ। बन्ध और मोक्ष ऐसे दो पहलू मेरे स्वरूप में नहीं—ऐसे निश्चयस्वरूप के अवलम्बन से जो श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप क्रिया होती है, वही मोक्ष का कारण है। निज स्वरूप के जोर से जितना राग टूटकर निर्मल भाव प्रगट हुआ, उतना व्यवहार है। व्यवहार तो क्षणिक पर्यायरूप और भंगभेदरूप है, उसके लक्ष्य में एकाग्र होने से सम्यग्दर्शन नहीं होता। निश्चय तो त्रिकाल एकरूप अभेदस्वरूप है, उसके लक्ष्य से एकाग्र होने से सम्यग्दर्शन होता है। सम्यग्दर्शन स्वयं श्रद्धागुण की निर्मल अवस्था है और वह अवस्था तो अभूतार्थ है, उसका आश्रय करे (अर्थात् पर्याय जितना आत्मस्वरूप माने), वह पर्यायमूढ़ मिथ्यादृष्टि है। त्रिकाल एकरूप परमपारिणामिकस्वभाव ही आदरणीय है, उसकी श्रद्धा, वही सम्यग्दर्शन है। यह बात अत्यन्त निकट भव्य जीवों के लिये है, जिसे चौरासी के अवतार में भटकना हो, ऐसे जीवों के लिये, यह बात नहीं है।

जीव-अजीवादि नौ तत्त्व हैं, उन प्रत्येक का स्वरूप अलग-अलग है। जीवतत्त्व अजीवतत्त्व का कुछ नहीं कर सकता। पुण्यतत्त्व और जीवतत्त्व भिन्न है; पुण्य से संवर-निर्जरा नहीं होते। मोक्षतत्त्व, वह भी जीवतत्त्व नहीं। मोक्षतत्त्व क्षणिक पर्याय है और जीवतत्त्व त्रिकाली द्रव्य है।—इस प्रकार नौ तत्त्व के लक्ष्य से उसे यथार्थ जाने, तब तो नौ तत्त्व की श्रद्धा हुई कहलाये अर्थात् कि व्यवहारश्रद्धा स्पष्ट हुई कहलाये परन्तु वह पुण्यपरिणाम है, धर्म नहीं। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र को माने और पंच महाव्रत निरतिचार

पालन करे, वह सब पुण्यमार्ग है—संसारमार्ग है, उसमें कहीं मुक्ति का मार्ग नहीं, वह व्यवहारश्रद्धा-ज्ञान-चारित्र के परिणाम मैं नहीं; मैं तो एकरूप सहज ज्ञानमय वीतरागस्वरूप हूँ—ऐसी श्रद्धा, वह मोक्षमार्ग है। जगत में पुण्य बाँधने के प्रकार तो बहुत हैं परन्तु धर्म का मार्ग एक ही है और वह अत्यन्त दुर्लभ है।

एक तत्त्व में दूसरे तत्त्व की अस्ति न हो, एक तत्त्व में दूसरे तत्त्व की, उसके गुण की या उसकी पर्याय की नास्ति है। आत्मा में जड़ की नास्ति है, आत्मा तीन काल-तीन लोक में जड़ की अवस्था नहीं कर सकता। इतना निर्णय करने के पश्चात् भी 'मैं जीव हूँ-अजीव नहीं', इत्यादि प्रकार से नौ तत्त्व के विकल्पों में एकत्वबुद्धि करके अटके, तब तक मिथ्यात्व ही है। नौ तत्त्व के आश्रय से श्रद्धा करे तो विकल्प के साथ की एकत्वबुद्धि रहती है और शुद्ध चैतन्यस्वभाव का अनुभव नहीं होता। मैं जीव हूँ, ऐसा विकल्प, वह राग है। यह अजीव है-वह मैं नहीं। ऐसे विकल्प में द्वेष है, पुण्य-पाप दोनों आस्रव हैं, वह मैं नहीं; आस्रव को रोकना, वह संवर है; शुद्धता की वृद्धि और कर्मों का आंशिक नाश, वह निर्जरा है; सम्पूर्ण शुद्धता प्रगट हो, वह मोक्ष है—इस प्रकार नौ तत्त्व के विचार करना, वह भी मात्र पुण्यपरिणाम है। उसमें धर्म नहीं। नौ तत्त्व के आश्रय से शुद्ध जीवतत्त्व की श्रद्धा नहीं होती। मात्र नौ तत्त्व के भेद के विकल्प से शुद्ध जीव को श्रद्धा करना, वह मिथ्यात्व है। परन्तु यदि अभेद एकरूप चैतन्यस्वभाव का आश्रय रखकर नौ तत्त्वों का ज्ञान करे तो वह सम्यग्ज्ञान है। यहाँ आचार्य भगवान ने कहा है कि अत्यन्त निकट भव्य जीवों को एकरूप त्रिकाली शुद्ध आत्मा जो कि अन्तर तत्त्व है, वही आदरणीय है, नौ तत्त्व इत्यादि बहिर्तत्त्व है, वे हेय हैं।

जिस प्रकार जिनमन्दिर पूरा होने पर उसके ऊपर स्वर्ण का कलश चढ़ाते हैं, उसी प्रकार यहाँ यह गाथा पूरी होने पर अब श्री पद्मप्रभमलधारिदेव एक कलश कहते हैं—

(मालिनी)

जयति समयसारः सर्व-तत्त्वैक-सारः,
सकल-विलय-दूरः प्रास्त-दुर्वार-मारः।

दुरित-तरु-कुठारः शुद्ध-बोधावतारः,
सुखजलनिधिपूरः क्लेशवाराशिपारः ।।५४।।

सर्व तत्त्वों में सारभूत एक समयसार (अर्थात् शुद्धात्मा) जयवन्त वर्तता है। कैसा है समयसार ? सम्पूर्ण विलय अर्थात् विकारों से दूर है, जिसका नाश करना कठिन है, ऐसे कामदेव को नष्ट कर दिया है, पुण्य-पाप और अज्ञानरूपी जो दुरित वृक्ष, उसे काटने के लिये कुल्हाड़े के समान है, शुद्ध ज्ञान का अवतार है, सुख से भरपूर समुद्र है और क्लेश के समुद्र से पार है।

आज समवसरण में श्री सीमन्धर भगवान और श्री कुन्दकुन्दाचार्य भगवान की स्थापना का मांगलिक दिन है और यह श्लोक भी मंगल आया है। श्री आचार्यदेव कहते हैं कि समस्त तत्त्वों में उत्कृष्टरूप यह समयसार जयवन्त वर्तता है। शुद्ध आत्मा में नौ तत्त्व के विकल्प का अवकाश नहीं है। ऐसे शुद्ध आत्मस्वरूप की जय हो और भेद के विकल्प का क्षय हो। यही महान मांगलिक है। जिसे शुद्धात्मा की रुचि और महिमा आयी हो, वही ऐसा कहता है कि शुद्ध आत्मा समयसार जयवन्त वर्तता है। पहले तो ऐसे स्वभाव की रुचि और पहिचान करना चाहिए। आत्मस्वभाव की पहिचान होने पर तुरन्त ही पर्याय में से सभी पुण्य-पाप टल नहीं जाते, परन्तु स्वभाव तो सदा सभी विकारों से दूर ही है—ऐसी श्रद्धा और ज्ञान होता है और विकार का आदर टल जाता है। नौ तत्त्व के विचार, वह राग है; उस रागरहित अकेला जाननेवाला ही मेरा स्वरूप है, वही सब तत्त्वों का सार है। सर्व तत्त्व में साररूप भगवान आत्मा जयवन्त वर्तता है। शुद्धात्मा ही जयवन्त वर्तता है अर्थात् हमारी पर्याय में शुद्धात्मा का ही उत्पाद हो और अशुद्धता का व्यय हो जाओ। जो शुद्ध आत्मा को ही जयवन्तरूप से देखता है, उसे पर्याय में शुद्धता का ही उत्पाद होता है।

स्वयं एक परम उत्कृष्ट समयसार तत्त्व है। अनन्त परद्रव्यों में स्वयं कुछ कर सके, ऐसा जो मानता है, उसे वीतराग भगवान ने जैन नहीं कहा। जैन अर्थात् जीतनेवाला; शुद्ध चैतन्यस्वभाव वह मैं; पुण्य, वह मैं नहीं। विकार मेरा कर्तव्य नहीं—ऐसे भेदज्ञान के जोर से जो विकार को जीतता है (-नष्ट करता है), वह जैन है। ऐसे भेदज्ञान बिना जीव का अनन्त काल गया और अनन्त अवतार हुए, महापाप करके अनन्त बार नरक

में गया और जैन का बाह्य साधु होकर बड़ा पुण्य करके नौंवे ग्रैवेयक में भी अनन्त बार गया, परन्तु एक भी भव नहीं घटा, क्योंकि उपादेयरूप अपना निश्चयस्वभाव क्या है, वह कभी जाना नहीं। व्यवहार तो बन्धनमार्ग है। बन्धनमार्ग से तीन काल में अबन्ध तत्त्व खुलता नहीं। बन्ध भावों से जो दूर है, ऐसे उत्कृष्ट चैतन्यस्वभाव की श्रद्धा करे तो बन्ध टले और मुक्ति प्रगट हो।

अनन्त काल से शुद्ध आत्मा की महिमा जानी नहीं और पुण्य का-राग का-व्यवहार का आश्रय माना, इसलिए उन पुण्यादि की जय थी अर्थात् उस पुण्य को और राग को सदा टिकाये रखने की भावना थी, वह अज्ञान था। अब जहाँ शुद्ध आत्मा की श्रद्धा हुई, वहाँ साधक जीव कहता है कि अहो! यह शुद्धात्मा सदा ही जयवन्त वर्तता है, कभी रागादि की जय हुई ही नहीं। पूर्व में अनन्त काल में रागादि के समय भी एकरूप शुद्ध आत्मा ही जयवन्त वर्तता था। एकरूप शुद्ध आत्मा का ही जय होओ और पुण्य-पाप का विलय हो। त्रिकाली स्वभाव में तो रागादि का अभाव है ही, उस स्वभाव की भावना से वर्तमान पर्याय में शुद्ध आत्मा प्रगट हो और रागादि का नाश होओ।

यह समयसार जयवन्त वर्तता है और पुण्य-पापरूपी विकारी भाव तो नाश होनेयोग्य है, उन नाश होनेयोग्य विकारी भावों से समयसार दूर ही है। आत्मा चैतन्यस्वभावमात्र है। विकार उसके स्वरूप में है ही नहीं। जहाँ आत्मा विकार का भी कर्ता नहीं तो पर का कुछ करे, यह बात तो कहाँ रही?

श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव समयसार की टीका के ९२वें श्लोक में कहते हैं कि '**आत्मा ज्ञानं स्वयं ज्ञानं ज्ञानादन्यत्करोति किम्**'— आत्मा ज्ञानस्वरूप है, स्वयं ज्ञान ही है, वह ज्ञान के अतिरिक्त दूसरा क्या कर सकता है? अरे प्राणियों! तुम्हारा आत्मा ज्ञान के अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं कर सकता, ऐसा तुम समझो। आत्मा जाननहार स्वरूपी ही है, तथापि अज्ञानी ऐसा मानते हैं कि हम जड़ की क्रिया करते हैं और शुभराग हमारा कर्तव्य है—ऐसे जीवों के लिये दूसरी लाईन में आचार्यदेव कहते हैं कि '**परभावस्य कर्तात्मा मोहोऽयं व्यवहारिणाम्**'—आत्मा परभाव का कर्ता है, ऐसा मानना, वह व्यवहारी जीवों का मोह है—अज्ञान है। मूढ़ मिथ्यादृष्टि जीव राग की क्रिया का कर्ता होता है, परन्तु रागरहित अपना सहज ज्ञानस्वभाव है, उसे नहीं मानता। शुद्ध स्वभाव में अभेद

होकर परिणमना चाहिए, उसके बदले अज्ञान के कारण रागादि में एकपना मानकर परिणमता है, वही अधर्म है।

आत्मा ज्ञानस्वरूप है, स्वयं ज्ञान ही है; ज्ञानस्वरूप से ही आत्मा तीनों काल जयवन्त है, उसमें राग या जड़ की क्रिया तीन काल-तीन लोक में नहीं है; तथापि ऐसे भगवान आत्मा को ज्ञान के अतिरिक्त परभाव का कर्ता मानना और रागादि परभावों को अपना स्वरूप मानना, वह मूढ़ अज्ञानी जीवों का व्यवहार है। यह व्यवहार, वही अधर्म है। अपने स्वभाव में तो विकार नहीं, तथापि अज्ञानी जीव मोह से पागल होकर विकार को अपना कार्य माने, उसका क्या हो?

यहाँ शुद्धभाव अधिकार में शुद्ध आत्मस्वभाव समझाते हैं। स्वभाव में विकार का अभाव है। परन्तु शुद्धस्वभाव की दृष्टि प्रगट किये बिना कोई अज्ञानी जीव ऐसा माने कि 'आत्मा तो पर्याय से भी शुद्ध ही है, पर्याय में भी रागादि नहीं' तो उसकी मान्यता खोटी है, पर्याय में विकार होता है, उसे यदि जाने ही नहीं, तब तो गृहीत मिथ्यात्व है। अपनी पर्याय में विकार होता है, उसे जानकर, शुद्धस्वभाव की दृष्टि से उसे टालने के लिये यह बात है। यदि अवस्था में विकार होता ही न हो तो आत्मा में वर्तमान पूर्ण शुद्धदशा प्रगट होती चाहिए और यदि पूर्ण शुद्धदशा प्रगट हो तो फिर समझने की या सुनने की क्या आवश्यकता होगी? अवस्था में विकार होता अवश्य है। परन्तु त्रिकाल वस्तुस्वरूप में वह विकार नहीं है, ऊपर का ऊपर रहता है। विकार से भिन्न स्वभाव का ज्ञान करने से धर्म होता है, परन्तु आत्मा को विकारवाला ही जानो तो धर्म नहीं होता।

पुण्य-पाप वह विकारी क्रिया है, उसमें एकाग्रता छोड़कर शुद्ध आत्मस्वभाव में एकाग्रता करना, वह ज्ञान की अविकारी क्रिया है, वह क्रिया ही मोक्ष का कारण है। भगवान आत्मा मिथ्यात्व और राग-द्वेषरूप विकार से दूर है, त्रिकाल स्वभाव को विकार के साथ एकता नहीं परन्तु भिन्नता है। आत्मा के स्वरूप में काम की—विषय की वासना नहीं है, संकल्प-विकल्प नहीं है। समस्त आत्माओं का ऐसा ही स्वरूप है। पर्याय में जो संकल्प-विकल्प होते हैं, वे तो उठाईगीर की तरह पराश्रय से नये खड़े करता है। अपने स्वभाव में तो उस कामदेव की वासना का और संकल्प-विकल्प का अभाव है। स्वभाव जयवन्त है और विकार का अस्त है। अभिप्राय में जहाँ स्वभाव का

आदर हुआ, वहाँ काम की वासना का नाश ही होता है, इन्द्रियविषयों में सुख की कल्पना अस्त पा जाती है। शुद्ध आत्मा में तो उसका त्रिकाल अस्त है ही, और उस शुद्धात्मा के आदर से पर्याय में भी वह अस्त हो जाते हैं।

जिसे त्रिकाली चैतन्यस्वभाव की भावना नहीं, उसे पर्याय में से कभी विकार का नाश नहीं होता, परन्तु विकार ही हुआ करता है। सब तत्त्वों में उत्कृष्ट ऐसे अपने परमपारिणामिकस्वभाव की भावना करने से पर्याय में से विकारी वासना का ऐसा अस्त हो जाता है कि फिर से कभी उदय को प्राप्त न हो।

और वह समयसार कैसा है?

अज्ञान और पुण्य-पापरूप जो दुरित वृक्ष है, उसका नाश करने के लिये कुठार-समान है। जहाँ समयसार स्वभाव का आदर हुआ, वहाँ अज्ञान और पुण्य-पाप नाश हो जाता है। शुद्धस्वभाव के आदर में से केवलज्ञानरूपी वृक्ष प्रगट होता है और पुण्य-पापरूपी दुरितवृक्ष नष्ट होता है।

और वह आत्मस्वभाव शुद्ध ज्ञान का अवतार है, सुख समुद्र से भरपूर है और क्लेश समुद्र से पार है। ऐसा आत्मा ही सर्व तत्त्वों में सार है, इसलिए वही उपादेय है। ऐसा सर्व तत्त्वों में उत्कृष्ट भगवान आत्मा जयवन्त वर्तता है।

★★★★★

श्री समयसार शास्त्र की प्रतिष्ठा का वार्षिक महोत्सव दिन

व्याख्यान नं. २५, [1]ज्येष्ठ शुक्ल ८, सोमवार

गाथा ३८ का कलश चालू।

सर्व तत्त्वों में एक सारभूत ऐसा समयसार जयवन्त है। आज श्री समयसार शास्त्र की प्रतिष्ठा का मांगलिक दिन है और श्लोक में भी बराबर यही मांगलिक वचन आया है कि सर्व तत्त्वों में एक सारभूत समयसार जयवन्त वर्तता है।

समयसार अर्थात् शुद्धात्मा। रागादि में या वाणी में शुद्धात्मा नहीं है। इस समयसार पुस्तक में शुद्ध आत्मा नहीं परन्तु समयसारादि सत्शास्त्र शुद्ध आत्मा के वाचक हैं— निमित्तरूप से शुद्ध आत्मा को दिखलानेवाले हैं, इसलिए जिसे अन्तर में शुद्ध आत्मा का बहुमान वर्तता है, वह जीव, विकल्प उठने पर शुद्ध आत्मा के निमित्तरूप शास्त्रों में भी शुद्ध आत्मा का उपचार करके उनकी पूजन और बहुमान करता है। इस प्रकार शास्त्रों की भक्ति और पूजा भी शास्त्रकारों ने बतलायी है। शुद्ध आत्मा को बतलानेवाली वाणी का बहुमान करने में वास्तव में तो अपने शुद्धस्वभाव का ही बहुमान है। साधक जीव को अपने अखण्ड स्वभाव की पहिचान और महिमा होने पर निमित्त में उसका आरोप करके उसका भी बहुमान करता है।

—परन्तु कोई जीव यदि शास्त्र के ही आधार से अपना ज्ञान मन ले और अकेले शास्त्र का ही आश्रय रखा करे तो वह मिथ्यादृष्टि है। शास्त्र से तो आत्मा भिन्न है और शास्त्र की ओर के झुकाव से जो भाव होता है, उससे भी आत्मा भिन्न है। शरीर, मन, वाणी जीव नहीं है, वह तो जड़ है और जिस भाव से तीर्थंकरनामकर्म बँधता है, वह भाव भी विकार है, वह जीव नहीं। जिस भाव से आत्मा का बन्धन हो, वह भाव विकार है। उस विकाररहित शुद्ध एकरूप आत्मा है, वही समयसार है; वह समयसार सर्व विकल्पों से दूर है। अवस्था में जो विकार है, वह द्रव्यस्वभाव में नहीं। अवस्था तो एक

१- ज्येष्ठ शुक्ल ७ का क्षय था

समयमात्र की है, त्रिकाली स्वभाव में उसका स्वीकार नहीं; इसीलिए कहा कि समयसार सम्पूर्ण विकार से दूर है। जीव के स्वभाव में शरीरादि अजीव की तो नास्ति है और क्षणिक विकार की भी उसमें नास्ति है। पर्याय में क्षणिक विकार की अस्ति है और त्रिकाली स्वभाव में उसकी नास्ति है।

समयसार अर्थात् शुद्धात्मा। जैसा सिद्ध परमात्मा का स्वभाव है, वैसा ही प्रत्येक आत्मा का स्वभाव है। उस स्वभाव को समझे बिना किसी भी क्रिया से धर्म नहीं होता। व्रतादि करके राग पतला करे तो पुण्य होता है, परन्तु 'व्रतादि का शुभराग, वह मैं और उससे मुझे धर्म होगा'—ऐसी मान्यता अनन्त जन्म-मरण का मूल है और शुद्ध आत्मस्वभाव की श्रद्धा करना, वह मोक्ष का मूल है। मेरा स्वभाव शुद्ध ज्ञानमय है, रागादिरहित है, वह भव का कारण नहीं; भव का कारण तो विकार है, मेरे स्वभाव में विकार ही नहीं और विकार के फलरूप भव भी नहीं। ऐसे जहाँ भवरहित स्वभाव की प्रतीति हुई, वहाँ अवस्था में रहा हुआ अल्प राग विशेष भव का कारण नहीं। आत्मा के स्वभाव में भव नहीं और स्वभाव भव का कारण नहीं; इसलिए जो जीव आत्मस्वभाव को मानता है, उसे अनन्तभव होते ही नहीं और जो जीव शुद्ध आत्मस्वभाव की प्रतीति नहीं करता और राग को ही अपना स्वरूप मानता है, उस जीव को अनन्त भव है। रागादि विकारों से अपने को लाभ मानना, वही अनन्त संसार की जड़ है क्योंकि जिसने विकार का आदर किया, उसने संसार का ही आदर किया है। जहाँ स्वभाव की प्रतीति है, वहाँ अनन्त भव में भटकने की शंका नहीं।

शुभराग करके अज्ञानी ऐसा मानता है कि मैंने धर्म किया, परन्तु अभी अन्तर में भवरहितपने की निःशंकता नहीं तो धर्म कैसा? 'मुझे अनन्त भव में भटकने का भगवान ने देखा होगा तो?' ऐसी जिसे शंका है, उसे धर्म नहीं है। धर्मी जीव स्वभाव के आश्रय से निःशंक होता है कि मुझे विशेष भव है ही नहीं; यदि मुझे विशेष भव हो तो भगवान के ज्ञान में दिखे न? आत्मा के स्वभाव में भव नहीं, आत्मा का गुण या धर्म भव का कारण नहीं। आत्मा का स्वभाव बैठे और भव की शंका भी रहे, ऐसी दो बातों का मेल नहीं है। मेरा स्वभाव त्रिकाल शुद्ध है, उसमें विकार नहीं-भव नहीं। आत्मा का स्वभाव निःशंक निःसन्देह है। विपरीतता से पर में सुख मानकर जीव निःसन्देह हुआ है। यदि

अविपरीतता से अपने आत्मा की प्रतीति करे तो आत्मस्वभाव में नि:शंकता हो और भव की शंका टले। जहाँ स्वभाव की श्रद्धा, वहाँ भव की शंका नहीं और जहाँ भव की शंका, वहाँ भव के नाशक आत्मस्वभाव की श्रद्धा नहीं। जिसने आत्मा के निर्विकारी स्वभाव को नहीं जाना और अधर्म में ही धर्म माना है, उसे ही भव की शंका होती है और उसे ही भव है – ऐसा भगवान जानते हैं। परन्तु जिसे स्वभाव की प्रतीति हुई है, उसे अनन्त भव होते ही नहीं; इसलिए भगवान के ज्ञान में भी उसके भव दिखते नहीं।

यहाँ आचार्यदेव कहते हैं कि अल्प काल में जिसे भवरहित होना, ऐसे निकट भव्य जीव इस शुद्ध आत्मा का आदर करो, उसकी पहिचान करो, उसके अनुभव का अभ्यास करो। यह शुद्धात्मा सर्व विकार से दूर है, पर का कुछ करने का विकल्प भी उसमें नहीं और एक समयमात्र की जो निर्मलदशा प्रगट होती है, उतना भी वह नहीं। शरीर इत्यादि की क्रिया करनेवाला आत्मा है—ऐसा मानना, वह मूढ़ता है; यह मूढ़पना आत्मा का स्वरूप नहीं और यह मूढ़ता टालकर सच्ची समझ प्रगट करे, उस अवस्था जितना भी आत्मा नहीं है। अहो! त्रिकाली पूरा द्रव्य क्या है—उसकी यथार्थ बात भी जिसने सुनी न हो, वह जीव समझे तो कहाँ से? और पूरा स्वभाव समझे बिना धर्म कैसा? पात्र होकर यथार्थ चैतन्यस्वभाव की बात सत्पुरुष से जिसने कभी सुनी ही न हो, वह जीव धर्म (–सम्यग्दर्शन) प्राप्त कर ही नहीं सकता—ऐसा नियम है।

धर्मी जीवों ने आत्मा का कैसा अनुभव किया? शरीर को या विकार को आत्मा के रूप में अनुभव नहीं किया; सम्यग्दर्शन केवलज्ञान या मोक्षअवस्था, वह एक ही समयमात्र की है, उसे लक्ष्य में नहीं लिया अर्थात् उस अवस्था जितना आत्मा को अनुभव नहीं किया, परन्तु अवस्थादृष्टि छोड़कर पूरा तत्त्व अनन्त गुण के पिण्डरूप, त्रिकाल एकरूप परमात्मस्वरूप है, उसे लक्ष्य में लेकर अनुभव किया; इसलिए अपना जो पूर्ण स्वभाव है, उसमें ही अभेद होकर पर्याय परिणमित हुई—यही धर्म है।

आत्मा के गुण त्रिकाल हैं। उस गुण की प्रगट अवस्था एक समय में एक ही होती है। एक समय की प्रगट अवस्था दूसरे समय में बदल ही जाती है। केवलज्ञानदशा लो या सिद्धदशा लो, वह एक समय की मर्यादावाली ही है। सिद्ध भगवान को कहीं दो पर्यायों का एक साथ अनुभव नहीं होता। एक पर्याय के पश्चात् ही दूसरी पर्याय आती

है। पर्याय का उत्पाद एक ही समयमात्र का है, दूसरे समय उसका व्यय हो जाता है; इसलिए एक-एक पर्याय शरणभूत नहीं, वह उपादेय नहीं। विकारी पर्याय तो आत्मा को शरणभूत नहीं, परन्तु विकार का नाश करनेवाली निर्मल पर्याय जितना भी आत्मा नहीं। अनन्त गुण का त्रिकाल पिण्ड, पारिणामिकस्वभावरूप ध्रुव वस्तु, वह आत्मा है, उस वस्तु की श्रद्धा करना—उसे अपना स्वरूप मानना, वही धर्म है, वही सम्यग्दर्शन है। अपने स्वभाव के निर्णय के लिये भगवान को पूछने जाना नहीं पड़ता। स्वयं ही अपने स्वभाव का निर्णय करता है कि मैं त्रिकाली गुण-पर्यायों से अभेद परिपूर्ण हूँ, विकार से सदा ही दूर हूँ। भगवान समयसार—शुद्धात्मा एक समय में परिपूर्ण है; उस पर दृष्टि करने से ही कामदेव का अस्त हो जाता है। जहाँ स्वभाव बैठा, वहाँ विभावों की वासना होती ही नहीं। केवलज्ञानपर्याय जितना भी अपना स्वरूप जो न माने, वह जीव विकार में या परवस्तु में अपना सुख कैसे मानेगा?

आत्मा के भण्डार में विकार है नहीं; यदि आत्मा के भण्डार में विकार भरा हो तो वह कभी टलेगा नहीं। विकार तो ऊपर टपकती अवस्था है, मूलस्वभाव में उसका कभी प्रवेश नहीं है। इसलिए जहाँ स्वभाव का भान करके-उसे ही उपादेय मानकर स्वभाव में पर्याय ढली, वहाँ पर्याय में से विकार का अस्त हुआ। स्वभाव के आदर से निर्मल पर्याय का उदय हुआ और विकार पर्याय का अस्त हुआ।

यह चौथे गुणस्थान के धर्म की बात है। केवलज्ञान होने से पहले धर्मी को कैसी श्रद्धा होती है, उसकी बात है। आत्मा स्वयं परमात्मस्वरूप ही है। जहाँ उस स्वभाव में पुरुषार्थ का जोर उठाया, वहाँ कामदेव का जोर कैसा? आनन्दमूर्ति स्वभाव के अतिरिक्त दूसरे किसी का स्वीकार ही सम्यग्दर्शन नहीं करता। जहाँ ऐसी श्रद्धा प्रगट हुई, वहाँ कामवासना ही नहीं है, इन्द्राणी आवे तो भी उसमें सुखबुद्धि नहीं होती।

बहिर्दृष्टि लोग कहते हैं कि मन का घोड़ा वश में नहीं रहता। उसे आचार्यदेव कहते हैं कि अरे भाई! जहाँ शुद्ध द्रव्यस्वभाव में रुचि और झुकाव हुआ, वहाँ मन कैसा और विकल्प कैसे? स्वभाव की जागृति हुई, वहाँ साधक को स्वभाव से चलायमान करने के लिये जगत में कोई समर्थ नहीं है; इसलिए तू तेरे स्वभाव को देख, उसका आदर कर और संयोग का आदर छोड़।

अज्ञानी जीव मात्र पर्याय को ही देखता है, इसलिए उसे विकार का ही अनुभव है; ज्ञानी जीव एक-एक पर्याय का लक्ष्य छोड़कर पूर्ण द्रव्यस्वभाव को ही देखता है; त्रिकाली स्वभाव को देखने से उसे पर्याय में से क्षणिक विकार का अस्त हो जाता है।

सम्यग्दर्शन होते ही मिथ्यात्वरूपी वासना तो टल ही जाती है। जो अस्थिरतारूपी विकार वासना रहती है, उसे ज्ञानी अपने स्वभाव में स्वीकार नहीं करता; उसे सदा स्वभाव की ही मुख्यता है, क्षणिक अवस्था की मुख्यता कभी नहीं है; इसलिए स्वभाव की मुख्यता में तो अस्थिरतारूपी वासना भी कहाँ है?

अवस्था में रागादि होते होने पर भी, उसी समय ही अपना शुद्धात्मस्वभाव समस्त विकार वासना से रहित ही है—ऐसी श्रद्धा के जोर में ज्ञानी को वास्तव में विकार होता ही नहीं; स्वभाव के आश्रय से स्वभावदशा ही उदय पाती है और विकार अस्त को प्राप्त होता है। यहाँ तो विकार होता है और नाश पाता है, ऐसी दशा को देखने की बात नहीं है। एकरूप निरपेक्ष स्वभाव बन्ध-मोक्षरहित ऐसा का ऐसा है... है... है, उसका ही स्वीकार है।

व्यापार में लाखों की आमदनी होती हो और पाँच रुपये ब्याज के भरने पड़ते हों, तो वहाँ लाखों की आमदनी के जोर में पाँच रुपये ब्याज भरना पड़े, उसकी गिनती नहीं है। इसी प्रकार आत्मा ज्ञानमूर्ति स्वभाव है, उसका जहाँ आदर हुआ, वहाँ क्षणिक वृत्तियों का आदर—स्वीकार नहीं है। त्रिकाल स्वभाव में क्षणिक विकार का अभाव है ही, और उस अवस्था में जहाँ एकता हुई, वहाँ पर्याय में से भी विकार का अभाव है। जहाँ स्वभाव और पर्याय एक हुए, वहाँ विकार कहाँ रहा? स्वभाव की दृष्टि में एक स्वभाव ही है, द्रव्य और पर्याय—ऐसे भेद भी नहीं तो फिर विकार तो होगा ही कैसे? आत्मा के अनन्त-अनन्त गुणों से भरपूर निर्मल परमात्मस्वभाव में अनन्त सामर्थ्य भरा है, उसके जोर में ज्ञानी विकार का जोर नहीं देखते।

एक ओर आत्मा का पवित्र स्वभाव तथा दूसरी ओर विकार—ऐसे दो ही पहलू हैं। विकार सब दुरित है—पाप है और आत्मस्वभाव उस पाप का नाश करनेवाला है। वास्तव में शुभ और अशुभ, ये दोनों पाप ही हैं। शुद्धस्वभाव-अपेक्षा से पुण्य और पाप दोनों में अन्तर नहीं है, दोनों पाप ही हैं। ऐसी श्रद्धा और पहिचान बिना धर्म नहीं होता।

आर्यदेश में कुम्हार का बालक भी कहता है कि चोरी करने से पाप लगता है, हरितकाय काटने से पाप लगता है—इत्यादि। इस प्रकार अशुभपरिणाम को तो पाप सब कहते हैं, परन्तु ज्ञानी तो सत्य, दया इत्यादि शुभपरिणाम को भी परमार्थ से पाप ही कहते हैं; शुभ-अशुभरहित जो निर्मल चैतन्यस्वभाव है, उसे ही पवित्र जानते हैं— इतनी विशेषता है। अज्ञानी पुण्य को उपादेय मानते हैं, यही अधर्म है। ज्ञानी पुण्य-पापरहित चैतन्यस्वभाव को ही उपादेय मानते हैं, वही धर्म है। श्री योगीन्द्रदेव योगसार में कहते हैं कि —

पापरूप को पाप तो जाने जग सब कोई,
पुण्यतत्त्व भी पाप है, कहे अनुभवी बुध कोई॥७१॥

जो भाव आत्मा के पवित्र गुणों के विकास को रोके, वह पाप ही है, शुभभाव भी आत्मा के अविकारी स्वभाव को रोकता है; इसलिए वह पाप ही है—ऐसा आत्म-अनुभवी ज्ञानी जानते हैं।

प्रश्न—शुभभाव को पाप न कहकर उससे पुण्यबन्धन कहो तो?

उत्तर—विकारीभाव, वह भावबन्धन है और भावबन्धन, वह वास्तव में पाप ही है। लोगों को पुण्य की ऐसी रुचि है कि पुण्य बाँधा और उसके फल में स्वर्ग में जाऊँगा—ऐसा मानकर उसका उत्साह करते हैं। अरे भाई! पुण्य-परिणाम में या स्वर्ग की सामग्री में कहीं तेरा सुख है? पुण्यभाव से भी आत्मा को बन्धन है—दु:ख है। बन्धन कहो या पाप कहो। 'बन्धन' कहने से अज्ञानी को ऐसा लगता है कि कर्मों ने आत्मा को बाँधा। परन्तु ऐसा नहीं है। कर्म आत्मा को नहीं बाँधते, परन्तु विकारीभाव को अपना स्वरूप मानकर आत्मा अटका है, वही बन्धन है। कर्मों की तो आत्मा में नास्ति है, वे आत्मा को नहीं बाँध सकते।

आत्मा के गुणों का घात होता है, तब ही पुण्यवृत्ति उत्पन्न होती है; इसलिए वह पाप ही है। भगवान आत्मा तो शुद्ध ज्ञान का अवतार है। आत्मा कभी विकाररूप उपजा ही नहीं, सदा ही शुद्ध ज्ञानरूप ही जयवन्त है। सभी आत्मा देह-मन्दिर में ऐसे ही विराजमान हैं, परन्तु अपने को अपनी महिमा की खबर नहीं; इसलिए पर की महिमा मान बैठा है तथा स्वयं को विकार जितना तुच्छ मान रहा है; यह महामिथ्यात्वरूपी जहर

चढ़ा है और इसलिए चौरासी के अवतार में भटक रहा है। यह श्री कुन्दकुन्द भगवान के मन्त्र शुद्ध आत्मस्वभाव की श्रद्धा कराकर वह जहर उतार डालते हैं।

आज भगवान समयसार की महामांगलिक स्थापना का दिन है। समयसार अर्थात् शुद्ध आत्मा। जिसने अपने शुद्ध आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान किये, उसने ही वास्तव में अपने आत्मा में समयसार की स्थापना की है और बाहर में, शुद्ध आत्मा को दर्शाने में निमित्तरूप इस समयसार शास्त्र की स्थापना है। वास्तव में शास्त्र में या शुभविकल्प में शुद्धात्मा नहीं है; शुद्धात्मा तो अन्तर में अपना त्रिकाल स्वभाव है। उस स्वभाव की श्रद्धा और बहुमान का विकल्प उठने पर, निमित्त में उपचार करके उसका विवेक किया जाता है। उसमें परमार्थ से तो अपने शुद्धात्मा का ही बहुमान है।

आत्मा के जिस भाव से जन्म-मरण का अन्त आवे और शाश्वत् सुख की प्राप्ति हो, वह धर्म है। शुद्ध आत्मा की पहिचान-श्रद्धा और उसमें लीनता, वह शुद्धभाव है, वही धर्म है और उससे मोक्ष होता है। पुण्यभाव में आत्मधर्म नहीं, पुण्य से आत्मा को लाभ नहीं और स्वयं पुण्यभाव करके दूसरे को भी कुछ लाभ नहीं कर सकता। सन्त-मुनि को पाँच महाव्रत की वृत्ति का जो उत्थान होता है, वह भी विकार है। आत्मा तो शुद्ध ज्ञान का ही अवतार है। आत्मस्वभाव में से कभी विकार जन्मता नहीं, परन्तु शुद्ध ज्ञानदशा ही जन्मती है। विकार तो स्वप्न में भी नहीं, पूर्व में भी कभी नहीं था। हे जीव! यह तेरे स्वभाव की बात है, तू सदा ऐसा शुद्धज्ञान का अवतार है। ऐसे अपने स्वभाव का बारम्बार अभ्यास और मनन करना चाहिए। 'मैं विकारी, मैं अधूरा, मैं पर का कर्ता'— ऐसे विकार के अभ्यास की टेव जगत को अनादि से है, वह तो मिथ्या अभ्यास है। यदि शुद्ध ज्ञानस्वभाव का अभ्यास करे तो पर्याय में से विकार टले और शुद्धता प्रगट हो।

मैं तो ज्ञान का ही अवतार हूँ। कभी शरीर में तो मैं अवतरित हुआ नहीं और विकार भावोंरूप भी मैं अवतरित नहीं हुआ; मैं तीनों काल शुद्धज्ञान का ही अवतार हूँ। पुण्य-पाप की उत्पत्ति, वह मैं नहीं; मुझमें शुद्ध ज्ञान के अतिरिक्त दूसरे किसी भाव की उत्पत्ति का स्थान ही नहीं है—ऐसा मेरा स्वभाव ही सर्व तत्त्वों में सार है और वह जयवन्त वर्तता है। शुद्ध एकरूप स्वभाव की महिमा करते हुए आचार्यदेव कहते हैं कि **'जयति समयसारः'**—समयसार जयवन्त है।

धर्मात्माओं को अपना स्वभाव ही आदरणीय है। इस आत्मा का अपना स्वभाव ही सारभूत है। सिद्ध भगवान, वे उनके आत्मा के लिये महान हैं; वे वास्तव में इस आत्मा को उपादेय नहीं है, वे तो इस आत्मा से भिन्न हैं; इसलिए उनके लक्ष्य से राग होता है।

अपना आत्मा सुखरूपी समुद्र से भरपूर है, वही अपने को उपादेय है। पर में जो सुख-दु:ख की कल्पना की है, वह तो क्षणिक मिथ्याभाव है। आत्मा का त्रिकाल आनन्दस्वभाव अन्तर में भरा है। अपना जो स्वभाव हो, वह कभी टलता नहीं, पृथक् नहीं पड़ता और विकारी नहीं होता। पर्याय में विकार की योग्यता है, परन्तु त्रिकाली स्वभाव में विकार की योग्यता नहीं है। अवस्था की योग्यता से उस-उस समय का विकार स्वयं करता है, कर्म कुछ कराता नहीं। परन्तु यहाँ तो यह बताना है कि अवस्था जितना आत्मा नहीं है; आत्मा त्रिकाल आनन्द का समुद्र है और क्लेशरूपी समुद्र से पार है। ज्ञानी को क्लेश का विकल्प हो जाये परन्तु परिपूर्ण स्वभाव में उसका स्वीकार नहीं है। यहाँ आशय क्या बतलाने का है, वह समझना। आत्मा का मूल अखण्डस्वरूप क्या है कि जिसे मानने से सम्यग्दर्शन प्रगट हो, वह यहाँ बतलाना है।

यह जीव सुखरूपी जल से भरपूर समुद्र है। उसे स्वभाव के कारण से दु:ख नहीं और संयोग के कारण से भी दु:ख नहीं। अपने स्वभाव को क्षणिक विकारी अवस्था जितना माना है, इसीलिए दु:ख है। अपने परिपूर्ण स्वभाव की प्रतीति करे तो वह दु:ख मिटता है। आत्मा त्रिकाल आनन्द इत्यादि गुणों का पिण्ड है, वह वर्तमान... वर्तमान... भी वह परिपूर्ण आनन्दरूप वर्तता है। 'आत्मा त्रिकाल पूरा है'—इसमें त्रिकाल कहने से तीनों काल इकट्ठे होकर आत्मा की पूर्णता होती है—ऐसा नहीं समझना परन्तु तीनों काल में जिस समय में देखो उस समय में—एक-एक समय में वह परिपूर्णरूप से ही वर्तता है - ऐसा समझना। पर्याय में—पर में आनन्द की जो कल्पना है, वह तो बाहर का भाव है; उस भावरहित आत्मा आनन्द से ही भरपूर है, वही एक सबका सार है और मुमुक्षुओं को वही आदरणीय है। बाहर में सुख मानकर राग करना या दु:ख मानकर खेद करना, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। अपना आत्मा स्वयं आनन्द से भरपूर है और क्लेशरहित है, वह त्रिकाल ऐसा का ऐसा जयवन्त वर्तता है—उसकी श्रद्धा-ज्ञान, वही

धर्म है। ऐसे स्वभाव का सत्समागम से श्रवण, मनन, चिन्तवन करना, यही धर्मी होने का पहले में पहला उपाय है।

भगवान समयसार आनन्द की पवित्र मूर्ति है। कर्म के निमित्त से उत्पन्न होनेवाले विकारी भाव उसके स्वरूप में नहीं है। यदि आत्मा के स्वरूप में विकारी भाव हों तो उनका कभी नाश नहीं होगा। पुण्य-पाप को अपना स्वरूप मानना, वह संसार का कारण है और पुण्य-पापरहित परम शुद्धस्वभाव को मानना, वह मुक्ति का कारण है।

विपरीत मान्यता एक समयमात्र की ही है, एक-एक समय बदल-बदलकर विपरीत मान्यता में अनन्त काल गया है। सुलटी मान्यता तथा मोक्ष, वह भी एक ही समयमात्र की अवस्था है। चैतन्यवस्तु त्रिकाल है, उल्टी मान्यता के समय और सुलटी मान्यता के समय वह एकरूप है। उस वस्तु को लक्ष्य में लेने से पर्याय गौण हो जाती है। बन्धपर्याय टलेगी और मोक्षपर्याय प्रगट होगी—ऐसे पर्यायभेद के विचार से मिथ्यात्व नहीं टलता। बन्ध और मोक्ष, ऐसा द्वैतपना जिसमें नहीं, ऐसे एकरूप स्वभाव की दृष्टि से ही सम्यग्दर्शन होता है। बन्धपर्याय के समय मोक्षपर्याय नहीं होती, मोक्षपर्याय के समय बन्धपर्याय नहीं होती, परन्तु आत्मस्वभाव तो प्रत्येक अवस्था के समय एकरूप पूरा है। पर्याय में जो विकार होता है, उसे अपना स्वरूप मानकर न अटकते हुए, पूर्ण स्वभाव को ही जानना और उसे ही आदरणीय मानना, वह मुक्ति का उपाय है। इसका ही नाम शुद्धभाव है।

जीव ने अनादि से स्वभाव को जानने का उद्यम नहीं किया, इसलिए यह बात समझना उसे कठिन और महँगी लगती है, परन्तु वास्तव में यह अपने स्वभाव की ही बात है, इसलिए सहज और सस्ती है। स्वभाव तो सहज है और परभाव कठिन है; स्वभाव सुखदायक है और परभाव दु:खदायक है। देखो! अनादि काल से अज्ञानरूप से स्त्री-पुत्र-शरीर-पैसा इत्यादि को अपना मानकर जीव उन्हें रखना चाहता है, परन्तु कभी एक रजकण भी अपना नहीं हुआ। पर को अपना करना, वह तो अशक्य ही है और पर्याय में विकार कर-करके उसे अपना स्वरूप माना, परन्तु कभी भी विकार अपने स्वरूप में प्रविष्ट नहीं हो गया। और एक का एक विकारभाव दूसरे समय टिक नहीं सकता, इसलिए विकार को भी जीव अपना नहीं कर सकता। पर से और विकार से

पृथक् जो अपना स्वभाव है, वह सदा जयवन्त है, मुमुक्षुओं को उपादेय है; बारम्बार उसका ही श्रवण करना, उसे जानना, उसे मानना, उसका विचार करना, उसका मनन करना, उसका अनुभव करना, यही मुक्ति का उपाय है।

अनन्त काल विकार पर्याय में व्यतीत हुआ, परन्तु कहीं स्वभाव जरा भी विकारी नहीं हो गया और विकारभाव आत्मा में इकट्ठा नहीं हुआ, इसलिए उसे टालने के लिये अनन्त काल नहीं लगता। विकार तो एक ही समय का है। बहुत काल गया, इसलिए विकार पुष्ट होकर बढ़ गया—ऐसा नहीं। चाहे जब जीव अपने स्वभाव का आश्रय करे, तब उसे विकार टल ही जाता है। 'एक होय तीन काल में परमारथ का पन्थ'—तीनों काल में मोक्ष का उपाय एक ही है कि अपनी वस्तु अनादि से ऐसी की ऐसी है, उसका आदर करना और पर्यायबुद्धि छोड़ना। वास्तव में तो स्वभाव का आश्रय-आदर करे, वहाँ पर्यायबुद्धि स्वयंमेव छूट जाती है परन्तु समझाने के लिये अस्ति-नास्ति से कथन किया जाता है। स्वभाव का आदर और पर्यायबुद्धि का नाश, इन दोनों रूप (अस्ति-नास्तिरूप) परिणमन एक ही समय में है; जहाँ स्वभाव का आदर करके उसमें परिणमित हुआ, वहाँ विकाररूप परिणमन हुआ ही नहीं।

सभी संसारी जीवों को पर्याय में अशुद्धता एक ही समयमात्र की है, अनन्त काल पहले जो सिद्ध हुए, उन्हें अल्प अशुद्धता थी और अनन्त काल के बाद जो सिद्ध हुए, उन्हें अधिक अशुद्धता थी - ऐसा नहीं है। दोनों को एक ही समयमात्र की पर्याय में अशुद्धता थी। परन्तु यहाँ तो 'पर्याय में एक समयमात्र का विकार है' उसकी बात भी नहीं है। एक समयमात्र की अशुद्धता अपना स्वरूप है, ऐसी श्रद्धा करना, वह भी मिथ्यात्व है। उस अशुद्धतारहित जो एकरूप निरपेक्ष शुद्धपारिणामिकस्वभाव है, उसकी श्रद्धा करना, वही सम्यग्दर्शन है।

आज समयसार की प्रतिष्ठा का पवित्र दिन है। यह समयसार की ही व्याख्या चलती है। श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव महाविदेहक्षेत्र में श्री सीमन्धर भगवान के समवसरण में गये थे और आठ दिन वहाँ रहकर, साक्षात् दिव्यध्वनि सुनकर वापस भारत में पधारकर यह समयसार, नियमसार, प्रवचनसार इत्यादि महाशास्त्रों की रचना की थी। अहो! उन्होंने इन शास्त्रों द्वारा भरतक्षेत्र में श्रुतज्ञान की प्रतिष्ठा की है। ज्ञान का प्रपात बहाया है। इस

शास्त्र के रहस्य को जो अपने आत्मा में समझे, उसे ऐसा शुद्धभाव प्रगटे कि एक भव करके मोक्ष जाये।

प्रश्न—इस काल में मोक्ष तो होता नहीं, तो मोक्ष की बात क्यों करते हो?

उत्तर—अरे भाई! भगवान ने कहीं ऐसा नहीं कहा कि इस काल में मोक्ष का उपाय नहीं हो सकता! अभी भी सच्ची समझ द्वारा आत्मा में मोक्ष का उपाय प्रगट करके एकावतारी हुआ जाता है। जो पुरुषार्थ करे, उसका अल्प काल में मोक्ष हुए बिना नहीं रहता। जिसे जिस वस्तु की रुचि हो, वह जीव उसके कालभेद को लक्ष्य में नहीं लेता, परन्तु उसके लिये सम्यक्पुरुषार्थ करता है। जब भी यह मोक्षदशा प्रगट होगी, तब अपने आत्मा में से प्रगट होनेवाली है या बाहर से? आत्मा का स्वभाव अभी ही पूरा है, उसे जो माने, उस जीव का मोक्ष हुए बिना नहीं रहता। अज्ञानी को अपने वस्तुस्वभाव की कीमत नहीं आती, इसलिए वह पंचम काल इत्यादि के बहाने बताता है और स्वभाव का पुरुषार्थ नहीं करता। अरे भाई! पंचम कल में विकार का पुरुषार्थ तो हो सके और स्वभावसन्मुख का पुरुषार्थ क्यों नहीं हो सकता?—अवश्य हो सकता है। यदि वस्तुस्वभाव की कीमत हो—उसकी रुचि और महिमा हो—तो उसे ही उपादेय समझकर उसमें एकाग्रता करे तो शुद्धता प्रगट हो, यही मोक्ष का मार्ग है।

इस प्रकार इस गाथा में बतलाया कि जो अत्यन्त आसन्न भव्य है, ऐसे जीवों को एक अपना शुद्ध आत्मा ही उपादेय है, इसके अतिरिक्त दूसरा कोई उपादेय नहीं है।

यहाँ ३८वीं गाथा पूरी हुई।

★★★★★

ऐसी तुम श्रद्धा करो

अरे प्राणियों! आत्मा का शुद्धस्वभाव समझे बिना अनन्त काल में दूसरे सब भाव किये हैं, वे कोई भाव उपादेय नहीं हैं। आत्मा का निश्चय स्वभाव ही उपादेय है, ऐसी तुम श्रद्धा करो।

अल्प काल में जिन्हें भवरहित होना है, ऐसे निकट भव्य जीव इस शुद्ध आत्मा का आदर करो, इसकी पहिचान करो, इसके अनुभव का अभ्यास करो।

व्याख्यान नं. २६, वीर संवत् २४७०, ज्येष्ठ कृष्ण ९, मंगलवार

(गाथा ३९)

३८वीं गाथा में जिस शुद्ध जीवतत्त्व का स्वरूप बतलाया, वही अत्यन्त आसन्न भव्य जीवों को उपादेय है। यह आत्मा सहज परमपारिणामिकभावस्वरूप शुद्ध कारणपरमात्मा है—ऐसा बतलाया। आगे की गाथाओं में, कौन-कौन भाव आत्मा के स्वरूप में नहीं—ऐसा नास्तिरूप कथन द्वारा निर्विकल्प आत्मस्वरूप बतलाते हैं। जो-जो भाव शुद्ध आत्मस्वरूप में नहीं, वे सब भाव हेय है और उन सब भावोंरहित जो निर्विकल्प तत्त्वरूप परमपारिणामिकस्वभाव है, वही उपादेय है—ऐसा समझना।

यह निर्विकल्प तत्त्वस्वरूप का कथन है—

णो खलु सहावठाणा णो माणवमाणभावठाणा वा।
णो हरिसभावठाणा णो जीवस्साहरिस्सठाणा वा।।३९।।

न खलु स्वभावस्थानानि न मानापमानभावस्थानानि वा।
न हर्षभावस्थानानि न जीवस्याहर्षस्थानानि वा।।३९।।

मानापमान, स्वभाव के नहिं स्थान होते जीव के।
होते न हर्षस्थान भी, नहिं स्थान और अहर्ष के॥३९॥

अर्थ—इस शुद्ध जीवतत्त्व को वास्तव में कोई स्वभाव स्थान नहीं है, मान-अपमानभाव के स्थान नहीं हैं, अहर्ष भाव के स्थान नहीं हैं तथा हर्ष के स्थान नहीं हैं।

इस गाथा में कहा कि जीव को स्वभावस्थान नहीं है। यहाँ स्वभावस्थान कहने से विभावरूप स्वभाव समझना। औदयिक-औपशमिक-क्षायोपशमिक और क्षायिक ये चारों भाव विभावरूप स्वभाव है। ये चारों भाव जीव की अवस्था है, इसलिए उसे स्वभाव कहा। परन्तु वे कोई भाव जीव का मूल स्वरूप नहीं है। इसलिए उन्हें विभाव कहा; इस प्रकार जीव को विभावरूप स्वभावस्थान नहीं है। जीव तो एक सहज निरपेक्ष पारिणामिकस्वभावरूप, सर्व अपेक्षाओं से रहित निरपेक्ष तत्त्व है। 'मैं शुद्ध हूँ, मैं

निरपेक्ष हूँ', ऐसे विकल्प द्वारा जीवतत्त्व ज्ञात नहीं होता। और जीव को कोई मान या अपमान भाव के स्थान नहीं है। सिद्धपर्याय से मान या अधूरी पर्याय से अपमान, वह जीव के स्वरूप में नहीं है। अधूरी पर्याय के समय भी शुद्ध जीवतत्त्व एकरूप परिपूर्ण है और पूर्ण पर्याय के समय भी वही है। इस प्रकार त्रिकाली एकरूप आत्मतत्त्व में मान-अपमान को स्थान नहीं हैं। क्षणिक पर्याय को लक्ष्य में लेने से जो मान-अपमान के विकल्प उठते हैं, वे जीवस्वरूप में नहीं हैं। जीवतत्त्व तो मान-अपमान के विकल्परूप नहीं है।

तथा शोक या हर्ष के स्थान भी जीवतत्त्व में नहीं है। जब देखो तब एक परिपूर्ण स्वरूपी जीवतत्त्व है; उसमें हर्ष या शोक का स्थान नहीं है। यदि एकरूप स्वभाव की दृष्टि छोड़कर पर्याय जितना ही आत्मा माने तो हर्ष या शोक हो। ज्ञानी तो एकरूप स्वभाव की दृष्टि से, हर्ष और शोक भाव के स्थानरहित जीवतत्त्व को अनुभव करते हैं।

यहाँ नास्ति के कथन द्वारा समझाया है। 'मैं मान-अपमानरहित हूँ' ऐसे विकल्प से भी शुद्ध जीवतत्त्व तो पार है। शुद्ध जीवतत्त्व का स्वरूप क्या है, उसे जाने और कौन-कौन से भाव शुद्ध जीवतत्त्व में नहीं—ऐसा जाने तो शुद्ध जीवतत्त्व का आदर करके विकार का नाश करे। जीव एक त्रिकाली स्वतन्त्रत तत्त्व है, उसका मूलस्वरूप कभी नष्ट नहीं होता। जैसे सोना ताँबा से भिन्न ही है, उसमें कारीगरी न हो या हो, परन्तु स्वर्ण का मूलस्वरूप तो नष्ट नहीं होता। सोना मिटकर ताँबारूप नहीं हो जाता; उसी प्रकार आत्मा का मूलस्वरूप प्रत्येक समय में एक सरीखा है, कभी अपना मूलस्वरूप छोड़कर विकाररूप वह नहीं हो जाता। यदि अपना मूलस्वरूप जाने तो उससे विरुद्ध भावों की श्रद्धा और आदर छोड़े। जिसे अपना मानता है, उससे भिन्नता करने का भाव नहीं आता, परन्तु जिसे अपने से भिन्न जानता है, उसे भिन्न करने का भाव आता है। उसी प्रकार आत्मा कैसे भाव से है और कौन-कौन से भाव आत्मस्वरूप में नहीं है—यह जाने बिना, रखना किसे और छोड़ना किसे? यह समझ में नहीं आता।

आचार्यदेव इस गाथा में कहते हैं कि उदयादि विभावस्वभाव हैं, वह आत्मा का स्वरूप नहीं। उदय-उपशमादि भाव होते हैं तो आत्मा की पर्याय में, परन्तु वे पर की अपेक्षावाले होने से विभावरूप हैं; वे विभावरूप स्वभाव शुद्ध जीवतत्त्व नहीं है। ३८वीं

गाथा में यह बात विस्तार से आ गयी है।

शुद्ध जीव में मान-अपमानभावस्थान नहीं है। यहाँ त्रिकाली स्वभाव की बात है। अहो! जो मान-अपमान के भावरहित अपने आत्मस्वरूप को उपादेय समझे, उस जीव को पर्याय में भी मान-अपमानभावों के प्रति कितनी उदासीनता वर्तती होती है! जिसे अपने आत्महित की दरकार हो, वह जीव जगत के लोगों से अपने मान-अपमान को नहीं देखता; जगत के लोग मुझे क्या कहेंगे—इसकी दरकार उसे नहीं होती। अहो! किसका मान और किसका अपमान? अपने त्रिकाल स्वभाव का ही बहुमान करके केवलज्ञान और सिद्धदशा प्रगट हो, उसके जैसा मान कौन सा? और स्वभाव का विरोध करके नीच गति में जाये, उसके जैसा अपमान कौन सा?

जिस जीव के सम्बन्ध में श्री तीर्थंकरदेव के मुख से या सन्तों के मुख से ऐसा आया कि 'यह जीव भव्य है, यह जीव पात्र है, यह जीव मोक्षगामी है'—तो उसके जैसा मान जगत में दूसरा कोई नहीं है और जिस जीव के सम्बन्ध में ऐसा आया कि 'यह जीव अपात्र है, यह जीव अभव्य है'—तो उसके जैसा अपमान तीन जगत में कोई नहीं है। भगवान की दिव्यध्वनि में जिस जीव का स्वीकार हुआ, उसे जगत के लोगों में मान की आवश्यकता नहीं; और भगवान की वाणी में जिसका नकार हुआ, उस जीव को जगत के अपमान की क्या आवश्यकता है? अर्थात् जगत के लोग भले उसे मान देते हों, परन्तु परमार्थ में तो वह अपमानित ही है। वास्तव में कोई दूसरा अपना मान या अपमान नहीं कर सकता।

जिस जीव ने अपने पवित्र स्वभाव का आदर करके सम्यग्दर्शनादि पवित्र गुण प्रगट किये, उस जीव ने अपना सच्चा बहुमान किया है और भगवान की वाणी में भी उसका स्वीकार है। और जिस जीव ने अपने पवित्र स्वभाव का अनादर करके, क्षणिक मान-अपमान के विकारी भावों को अपना स्वरूप माना है, उस जीव ने स्वयं ही अपना अपमान किया है। मिथ्यात्व के कारण वह जीव अनन्त संसार में भटकता है।

क्षणिक हर्ष-शोक के विकारभाव हों, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। शुद्ध जीवतत्त्व में हर्ष-शोक के भावों का स्थान ही नहीं है। हर्ष और शोक के भावों से पार जो कोई सहज तत्त्व है, वही शुद्ध जीवतत्त्व है। ऐसे जीवतत्त्व की पहिचान, वह धर्म है।

उस शुद्ध जीवतत्त्व को पहिचानकर उसे ही उपादेय मानना, वह सम्यग्दर्शनरूप धर्म है और ऐसे जीवतत्त्व में लीन होना, वह सम्यक्चारित्ररूप धर्म है। ऐसा शुद्ध जीवतत्त्व निकट भव्यजनों को सर्व प्रकार से उपादेय है।

टीका

'त्रिकाल निरुपाधिस्वरूप शुद्ध जीवास्तिकाय को वास्तव में विभावस्वभाव स्थान नहीं हैं; प्रशस्त तथा अप्रशस्त समस्त मोह-राग-द्वेष के अभाव के कारण, मान-अपमान के हेतुभूत ऐसे कर्मोदय स्थान भी नहीं हैं; और शुभपरिणति के अभाव से शुभकर्म का अभाव है, शुभकर्म का अभाव होने से संसारसुख का अभाव है और संसारसुख के अभाव के कारण उसे हर्ष स्थान नहीं है; तथा अशुभपरिणति के अभाव से अशुभकर्म का अभाव है, अशुभकर्म के अभाव से दु:ख का अभाव है और दु:ख के अभाव से अहर्षस्थान भी जीव को नहीं है।'

ज्ञानावरणादि आठ कर्म जड़ हैं, उनसे जीव भिन्न है; और उन कर्मों के निमित्त से जो शुभ या अशुभभाव हों, वे उपाधिभाव हैं। आत्मा के त्रिकाली स्वरूप में तो उपाधि नहीं, आत्मा तो त्रिकाल निरुपाधिस्वरूप है। वही शुद्ध जीवतत्त्व है। जो विकार को आत्मा का स्वरूप मानते हैं, वे शुद्ध जीवतत्त्व को नहीं मानते। यह बात सिद्धदशा प्रगट हो, तब की नहीं परन्तु त्रिकाल की है। आत्मा का मूलस्वरूप तीनों काल निरुपाधिक है। ऐसे निरुपाधिक तत्त्व को जाने तो शुद्धभाव प्रगट हो। आत्मा का जो स्वाभाविकरूप है, उसमें रागादि नहीं; और रागादि टलकर जो निर्मलदशा प्रगट हो, उतना भी आत्मा का स्वरूप नहीं। यहाँ तो मलिनपर्याय तथा निर्मलपर्याय, इन दोनों को उपाधिभाव कहा है; ये दोनों विभावरूप स्वभाव हैं, उसमें कर्म की अपेक्षा आती है। जिसमें कोई दूसरी अपेक्षा नहीं, ऐसा सहज एकरूप आत्मस्वभाव है।

जैसे सोने के लम्बे टुकड़े के ऊपर काला वस्त्र हो या लाल वस्त्र हो, परन्तु वह कहीं सोने का स्वरूप नहीं है। सोना तो अन्दर भिन्न है। ऊपर के वस्त्र के नाश से कहीं स्वर्ण का नाश नहीं हो जाता तथा खराब वस्त्र हो तो सोना बिगड़ नहीं जाता; इसी तरह—सम्यग्दर्शन के विषयभूत यह आत्मा शुद्धस्वरूपी है। कोई शुभ या अशुभभाव उसका स्वरूप नहीं है। शुभभाव हो, वह लाल वस्त्र जैसा है और अशुभभाव हो, वह

काले वस्त्र जैसा है, आत्मा का मूलस्वरूप इन दोनों से भिन्न है। इन शुभाशुभभावों के नाश से कहीं आत्मा का नाश नहीं हो जाता, तथा उनसे आत्मा का मूलस्वरूप विकारी नहीं हो जाता। यदि शुभ-अशुभभाव आत्मा का स्वरूप हो तो उसका नाश होने पर साथ ही आत्मा का भी नाश हो जाये!

यहाँ सोना और वस्त्र का दृष्टान्त तो सिद्धान्त को सरल रीति से समझाने के लिये है। दृष्टान्त और सिद्धान्त सर्व प्रकार से मिलते नहीं हैं। दृष्टान्त में तो सोना और वस्त्र सर्वथा भिन्न पदार्थ हैं, परन्तु सिद्धान्त में ऐसा नहीं है। यहाँ आत्मा का त्रिकाली स्वभाव बतलाना है, इसलिए शुभ-अशुभ को आत्मा से भिन्न कहा है, परन्तु जैसे आत्मा और पुद्गल सर्वथा भिन्न दो पदार्थ ही हैं, वैसे शुभ-अशुभभाव कहीं आत्मा से सर्वथा भिन्न कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है, वे आत्मा की ही पर्याय है; शुभ-अशुभभाव आत्मा की पर्याय में ही होते हैं, परन्तु उन क्षणिक विकारी पर्याय जितना ही पूरा आत्मस्वरूप नहीं है, इसलिए आत्मस्वरूप से वे भिन्न हैं।

यहाँ श्री आचार्यदेव पर्याय की एकताबुद्धि छुड़ाकर पूरा आत्मस्वभाव बतलाते हैं, क्योंकि अनादि काल से अपने पूर्ण आत्मस्वरूप को जाना नहीं, इसीलिए जीव भटकता है। पूर्ण स्वरूप की दृष्टि से तो विकारी पर्याय का भी आत्मा में अभाव है। आत्मा तीनों काल निरुपाधिकस्वरूप है। जैसे स्वरूप से जीव का सदा अस्तित्व रहा करता है, वह जीव का स्वरूप है; वही शुद्ध जीवास्तिकाय है और उसकी श्रद्धा, वह सम्यग्दर्शन है। यदि क्षणिक विकाररूप जीव को माने तो त्रिकाली अस्तित्ववाला शुद्ध जीवतत्त्व श्रद्धा में नहीं आता और सम्यग्दर्शन नहीं होता।

जीव का अपना स्वरूप उपाधिवाला है नहीं, परन्तु पर्यायदृष्टि से मात्र उपाधिवाला स्वरूप माना है। अज्ञानी को विकार ही भासित होता है, विकाररहितपना भासित ही नहीं होता। ज्ञानी कहते हैं कि आत्मा में विकाररहितपना ही सदा है। विकारवाला आत्मा हमें भासित ही नहीं होता। हे जीव! तेरे आत्मस्वभाव में राग-द्वेष की उत्पत्ति नहीं है। जो तेरे स्वभाव में नहीं, उसे 'नास्तिरूप' माने बिना वह टलेगा नहीं। 'मैं आत्मा सहज ज्ञानस्वरूपी हूँ, मेरे स्वरूप में कभी पुण्य-पापरूप उपाधि नहीं। यदि मेरे स्वरूप में ही उपाधि हो तो पर्याय में से कभी मैं उसे मिटाकर उपाधिरहित हो ही नहीं सकूँगा।

जैसे सिद्ध भगवन्त सम्पूर्ण उपाधिरहित हो गये हैं, वैसा ही मेरा स्वरूप उपाधिरहित है। पर्याय में जो क्षणिक उपाधि है, वह त्रिकाली निरुपाधिस्वरूप की भावना से टल जाती है'—ऐसे अपने निरुपाधिक स्वरूप को स्वीकार किये बिना जीव चाहे जितने उपवास, दया, दान, भक्ति, पूजा, यात्रा, व्रत, प्रतिमा इत्यादि कर-करके जीवन पूरा करे, तो भी उसे धर्म का अंश प्रगट नहीं होता।

आत्मा का स्वभाव सर्व प्रकार के रागादि से रहित है। जिससे तीर्थंकरनामकर्म बँधे, ऐसा शुभभाव हो या सर्वार्थसिद्धि का भव जिससे मिले, ऐसा शुभभाव हो, भगवान के समीप अवतार हो, ऐसा शुभ हो या 'आत्मा का मोक्ष करूँ' ऐसे विकल्परूप शुभभाव हो—वे सभी भाव राग है; वे कोई भाव आत्मा का स्वरूप नहीं और उनसे धर्म नहीं होता। जो जीव, तीर्थंकरनामकर्म बँधे—ऐसे शुभभाव को अपना स्वरूप मानता है, उस जीव को तीर्थंकर नामकर्म नहीं होता; जिससे सर्वार्थसिद्धि का भव मिले, ऐसे भाव को अपना स्वरूप माने तो उसे सर्वार्थसिद्धि का भव नहीं हो सकता; भगवान के पास जाने के शुभभाव को अपना स्वरूप माने तो उसे भगवान की भेंट नहीं होती; कदाचित् क्षेत्र से भगवान के नजदीक जाये तो भी भाव से तो वह भगवान से दूर ही है और जो जीव 'मोक्ष करूँ' ऐसी शुभवृत्ति को अपना स्वरूप माने, उस जीव का मोक्ष नहीं होता। सर्व उपाधिरहित आत्मस्वरूप को जो मानता है, वह जीव उपाधि मिटाकर मुक्ति प्राप्त करता है।

आत्मा त्रिकाल पूर्ण स्वरूप है, उस त्रिकाल स्वरूप में राग नहीं, इसलिए आत्मा को भगवान की दासता नहीं है। आत्मा के स्वभाव को राग का भी शरण नहीं तो फिर राग के निमित्तरूप भगवान हैं, उनका शरण तो कहाँ से होगा? जो जीव अपने से भिन्न भगवान का शरण मानता है, वह रंक है-पर का दास है। जिसने भगवान का शरण माना, उसने भगवान की ओर के राग को करनेयोग्य माना, परन्तु रागरहित चैतन्यस्वभाव को नहीं माना; इसलिए वह जीव अधर्मी है। '**दीन भयो प्रभु पद जपै मुक्ति कहाँ से होय?**' मैं विकारी हूँ, मैं रागी हूँ, भगवान की भक्ति से मेरा उद्धार होगा—इस प्रकार रंक होकर जो जीव भगवान की प्रार्थना करता है, उस जीव को मुक्ति कहाँ से होगी? मैं रागी हूँ, अपूर्ण हूँ, ऐसा मानकर प्रभु पद की प्रार्थना करे तो प्रभु पद कहाँ से होगा? जो जीव

अपने को भगवानस्वरूप माने, वह जीव मुक्त होता है। भगवान ने शुभराग को धर्म नहीं कहा, तथापि जो जीव भगवान की भक्ति के शुभराग से धर्म मानता है, वह वास्तव में भगवान का भक्त नहीं, परन्तु विरोधी है। पर्याय में क्षणिक राग होने पर भी उसकी पकड़ छोड़कर रागरहित अपना स्वरूप जो मानता है, वह बड़ा बादशाह है, वह किसी पर की दासता नहीं मानता, परन्तु अपने ही स्वभाव का आश्रय करके मुक्ति प्राप्त करता है। जो जीव रागरहित स्वभाव को नहीं मानता और क्षणिक राग की ही पकड़ करता है, वह जीव रंक है, वह पराश्रय मान-मानकर संसार में भटकता है।

प्रश्न—ज्ञानी जीव भी भगवान के पास भक्ति करते हुए ऐसा बोलते हैं कि—'हे नाथ! भव-भव में आपकी शरण होओ।' यदि भगवान की शरण न होती हो तो ज्ञानी ऐसा क्यों बोलते हैं?

उत्तर—'भव-भव में भगवान की शरण होओ' ऐसी मात्र निमित्त की ओर की भाषा है। उस भाषा के तो ज्ञानी कर्ता नहीं हैं, उस भाषा के समय अन्तर में ज्ञानी को ऐसा अभिप्राय होता है कि—रागरहित चिदानन्द मेरा स्वरूप है, ऐसी श्रद्धा-ज्ञान हुए होने पर भी अभी पर्याय में राग है। जब तक राग हो, तब तक अशुभराग तो हमको हो ही नहीं, परन्तु वीतरागता के निमित्त के प्रति लक्ष्य हो, वीतरागता का ही बहुमान हो, राग का बहुमान न हो। शुभराग टूटकर अशुभराग न ही हो, अब शुभराग लम्बे काल टिक नहीं सकेगा, अल्प काल में वह बदलकर या तो वीतरागभाव और या तो अशुभभाव होगा। 'वीतराग का ही शरण है' इसमें ज्ञानी को ऐसी भावना है कि यह शुभ टूटकर अशुभ न हो, परन्तु शुभ टूटकर वीतरागता हो। वीतराग के बहुमान का राग होना, उस राग के समय वीतराग की ओर लक्ष्य होता है, परन्तु कोई वीतराग भगवान मुक्ति नहीं देते, मैं मेरी सामर्थ्य से ही राग तोड़कर भगवान होनेवाला हूँ। यदि आत्मा में भगवान होने की सामर्थ्य न हो तो भगवान उसे कोई कर देने में समर्थ नहीं हैं और यदि आत्मा में ही भगवान होने की सामर्थ्य है तो उसे भगवान की दासता नहीं है। मैं स्वतन्त्र भगवान हूँ—ऐसे स्वभाव के भान बिना स्वतन्त्रता प्रगट नहीं होती और बन्धन नहीं टलता। वीतराग भगवान की प्रार्थना के शुभराग द्वारा तीन काल-तीन लोक में धर्म नहीं होता। जिसे अपने स्वत: शुद्धस्वभाव की खबर नहीं, वे जीव अपने को देव-गुरु-शास्त्र

इत्यादि का दास मानते हैं। आचार्यदेव ऐसी मान्यतावाले को जीव नहीं कहते। वह तो जड़ जैसा है—मूढ़ है, उसे अपने चैतन्यतत्त्व की खबर नहीं। ऐसे अज्ञानी को आचार्यदेव समझाते हैं कि हे भाई! तेरा आत्मा अनन्त गुण का पिण्ड, परमपारिणामिकभावस्वरूप है, उसे तू पहिचान। शरीर-मन-वाणी का या पुण्य-पाप का आधार न रख, पर्याय का भी आधार छोड़कर त्रिकाल स्वभाव का आधार ले। पुण्य-पापरहित आत्मस्वरूप को माने बिना पुण्य-पाप टलेंगे नहीं।

जैसे शरीर में फोड़ा हुआ हो, उसे यदि रोगरूप से समझे तो उसका ऑपरेशन कर डाले। उसी प्रकार जो जीव शुद्ध चैतन्यस्वरूप को जाने और हिंसा या दयादि के भाव उससे भिन्न हैं, ऐसा जाने, वह जीव विकार भावों को छेदकर मुक्ति प्राप्त करे। परन्तु जो जीव अपने निरुपाधि शुद्धस्वरूप को पहिचाने नहीं, वह जीव शुभाशुभपरिणाम को छोड़ता नहीं और उसकी मुक्ति होती नहीं है।

प्रश्न—मात्र 'आत्मा शुद्ध है' ऐसा समझ जाने से क्या मोक्ष हो जाता होगा? कुछ शरीर की क्रिया करनी चाहिए न? महावीर प्रभु ने भी मुनिदशा में बारह-बारह वर्ष तक कष्ट सहन किये और उपवास इत्यादि क्रियाएँ कीं, तब उन्हें मुक्ति प्राप्त हुई न?

उत्तर—भाई! तेरी बात अक्षर-अक्षर मिथ्या है, आत्मा किसे कहना, इसका भी जिसे भान नहीं तो फिर भगवान के आत्मा ने क्या किया, उसकी तुझे कहाँ से खबर पड़ेगी? तुझे आत्मा की क्रिया दिखती नहीं, मात्र जड़ की क्रिया दिखती है। क्या भगवान दु:ख सहन कर-करके मुक्ति को प्राप्त हुए हैं? या आत्मा के आनन्द का अनुभव करते-करते मुक्ति को प्राप्त हुए हैं? उपवास आत्मा में होता होगा या शरीर में? उपवास करना, वह सुखरूप होगा या दु:खरूप होगा? भगवान ने दु:ख लगे, वैसे उपवास नहीं किये थे, परन्तु अन्तर के चैतन्यसमुद्र में डुबकी लगाकर आत्मिक आनन्दरस के स्वाद के अनुभव में ऐसे लीन थे कि आहार का विकल्प उठता नहीं था और इसलिए बाहर में आहारादि सहज नहीं थे। ऐसी अन्तर क्रिया और ऐसे उपवास भगवान ने किये थे। अज्ञानियों ने अन्तर में आत्मा की क्रिया को नहीं पहिचाना और बाहर में आहार का संयोग नहीं हुआ, इस बात को लग पड़े, उसमें ही धर्म मान लिया। आहार तो जड़ है, परवस्तु है। परवस्तु का ग्रहण या त्याग आत्मा नहीं कर सकता। अन्तर में निरुपाधि

आत्मस्वभाव क्या है, उसके भान बिना चैतन्य में लीनता होगी कहाँ से? शुद्ध चैतन्यतत्त्व को जानकर-मानकर उसके ही अनुभव में एकाग्र होना, वह धर्मी जीवों की क्रिया है; वह क्रिया करने से मुक्ति होती है। इसके अतिरिक्त शरीर की किसी क्रिया से या विकारभावरूप क्रिया से धर्म या मुक्ति नहीं होती।

सभी आत्माओं का पवित्र निरुपाधिक स्वभाव है, उस स्वभाव में विकार तीन काल में नहीं है। वर्तमान अवस्था में जो विकार है, उसे जो अपना स्वरूप मानकर उसके अनुभव में अटक जाये और उससे रहित जो त्रिकाली शुद्धस्वभाव है, उसे न माने और न अनुभव करे तो जीव का अज्ञान टलता नहीं। हे जीव! त्रिकाली शुद्धस्वभाव को समझे बिना तू श्रद्धा को कहाँ एकाग्र करेगा? और ज्ञान को कहाँ स्थिर करेगा? निर्विकल्प शुद्धस्वभाव के साथ एकता और विकार से पृथक्ता—ऐसी श्रद्धा-ज्ञान और अनुभव करने के पश्चात् विकार हो, उसे जीव अपने स्वरूपरूप से नहीं अनुभव करता; इसलिए शुभाशुभविकार के समय भी शुद्धस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञानरूप धर्म बना रहता है और साधक जीव सदा इसी प्रकार स्वभाव में एकतारूप से और विकार से पृथक्रूप परिणमते हुए शुद्धता की पूर्णता करके केवलज्ञान प्रगट करता है।

त्रिकाल निरुपाधिस्वरूपी शुद्ध जीवास्तिकाय को वास्तव में विभावस्वभावस्थान नहीं है—ऐसा कहा। अब कहते हैं कि 'प्रशस्त तथा अप्रशस्त समस्त मोह-राग-द्वेष का अभाव होने से, मान-अपमान के हेतुभूत कर्मोदय के स्थान भी शुद्धजीव को नहीं है। शुद्धजीवतत्त्व में सर्व प्रकार के राग-द्वेष ही नहीं है; मोह-राग-द्वेष के बिना मान-अपमान कहाँ से होगा? इसलिए जीव में मान-अपमान के हेतुभूत कर्मोदय स्थान नहीं है। क्षणिक अवस्था में 'मुझे मान हुआ या मेरा अपमान हुआ', ऐसा जो विकल्प हो, वह जीव के स्वरूप में नहीं है। मान के प्रति राग और अपमान के प्रति द्वेष—ये दोनों, आत्मा की निरोगता में बाहर की सूजन समान है। बाहर के मान-अपमान पूर्व कर्म अनुसार है; यदि जीव उस ओर झुकाव करे तो मान-अपमान की वृत्ति होती है; और यदि अपने स्वरूप में झुके तो मान-अपमान की वृत्तियाँ नहीं होती, क्योंकि जीव के स्वरूप में मान-अपमान नहीं है।

बाहर में पर की ओर से मान-अपमान हो, वह तो कर्मोदय का कार्य है। ज्ञानी

किसी पर से अपना मान या अपमान नहीं मानते। अपने परमात्मस्वभाव का बहुमान करके जो पूर्ण परमात्मदशा प्रगट होती है, उसमें ही सच्चा मान है और अपने परमात्मस्वभाव का अनादर करके निगोददशा हो, वही बड़ा अपमान है। परन्तु पर्याय अपेक्षा से ऐसे जो मान-अपमान हैं, वे त्रिकाली जीवतत्त्व में नहीं हैं।

आत्मा में मोह-राग-द्वेष नहीं। 'परपदार्थ मेरे हैं, मैं पर का कर सकता हूँ'—ऐसा अहंकार भाव, वह मोह है; और 'परपदार्थ मेरे नहीं, मैं पर से भिन्न हूँ'—ऐसा रागरूप विकल्प, वह भी मोह है; वह आत्मस्वरूप में नहीं है। पुण्यभाव, वह शुभ मोह है और पापभाव, वह अशुभमोह है। आत्मा सहज चिदानन्दमूर्ति है, देव-गुरु-शास्त्र के प्रति शुभमोह या शरीरादि के प्रति अशुभमोह उसके स्वरूप में नहीं है।

सत्य का स्थापन करने का रागभाव और असत्य का उत्थापन करने का द्वेषभाव-यह प्रशस्त राग-द्वेष है। स्त्री आदि के प्रति रागभाव और रोग-शत्रु आदि के प्रति द्वेषभाव, यह अप्रशस्त राग-द्वेष है। प्रशस्त या अप्रशस्त कोई राग-द्वेष जीव के स्वरूप में नहीं है। निचलीदशा में यह राग-द्वेष हों, वह अलग बात है, परन्तु उन राग-द्वेष को ही स्वभाव मान लेना और उन्हें कर्तव्य मानना, वह मिथ्यात्व है। वर्तमान पर्याय में राग-द्वेष है, उन राग-द्वेष में कहीं जीवतत्त्व नहीं है। जीवतत्त्व तो राग-द्वेष से भिन्न है। राग-द्वेष-मोह में जीवतत्त्व को खोजना, वह मिथ्यात्व है। राग-द्वेषभावों में एकताबुद्धि छोड़कर उसी समय अखण्ड चैतन्यस्वभाव है, उसकी श्रद्धा करना, वह सम्यग्दर्शन है।

वास्तव में राग-द्वेष-मोहरहित चैतन्यतत्त्व के भान के पश्चात् जो राग-द्वेष होते हैं, उसमें ही प्रशस्त और अप्रशस्त ऐसे दो भाग पड़ते हैं। जो राग-द्वेष को ही अपना स्वरूप मान रहा है, वह जीव तो शुभराग के समय मिथ्यात्वरूप महापाप को भी सेवन कर रहा है; इसलिए वास्तव में उसके शुभराग-द्वेष अप्रशस्त है। ज्ञानी के शुभराग-द्वेष को प्रशस्त कहा, इसलिए ऐसा नहीं समझना कि वे राग-द्वेष अच्छे हैं अथवा करनेयोग्य हैं। कोई राग-द्वेष अच्छे हैं ही नहीं। परन्तु ज्ञानी को उस शुभराग के समय उसका निषेध वर्तता है और वीतरागभाव बढ़ता जाता है, इसलिए उसे प्रशस्त कहा है। वह प्रशस्त राग-द्वेष भी धर्म का कारण नहीं, वे करनेयोग्य नहीं, वह जीव का स्वभाव नहीं।

यहाँ शुद्ध आत्मस्वरूप का स्वरूप वर्णन करना है, इसलिए वर्तमान पर्याय को

गौण करके त्रिकाली आत्मस्वरूप की दृष्टि से कहा है कि राग-द्वेष-मोह का आत्मतत्त्व में अभाव है, परन्तु एकान्तरूप से ऐसा नहीं समझना कि आत्मा की पर्याय में भी रागादि होते ही नहीं। यदि आत्मा की अवस्था में भी रागादि होते ही न हों और वह सर्वथा शुद्ध ही हो तो 'राग-द्वेष-मोह आत्मा का स्वरूप नहीं, इसलिए वे हेय हैं'—ऐसा समझाने का कोई प्रयोजन नहीं रहता। आत्मा की अवस्था में राग-द्वेष मोह होता है और अज्ञानी जीव उन रागादि जितना ही अपना अस्तित्व मान रहा है, इसलिए आचार्यदेव उसे समझाते हैं कि भाई! तेरा स्वरूप सहज शुद्धचेतनरूप है। ये रागादि भाव तेरे निजस्वरूप में नहीं हैं; इसलिए तू रागादिरहित तेरे निजस्वरूप को पहिचानकर उसका आदर कर तो तेरी अवस्था में से भी राग-द्वेष-मोह टलकर मुक्ति प्रगट होगी।

रागादिरहित आत्मस्वभाव का भान होने के पश्चात् भी धर्मी जीवों को भूमिकानुसार राग-द्वेष की वृत्ति होती है, परन्तु वे उन रागादि को अपना स्वरूप नहीं मानते। कोई अज्ञानी जीव धर्म के नाम से मिथ्या बात का स्थापन करता हो, तब रागवाली भूमिका में रहे हुए सम्यग्दृष्टि को अन्तर में निषेध आता है कि अरे रे! जगत के पामर जीव परम सत्य को कैसा उल्टा मनवा रहे हैं? इस प्रकार रागवाली भूमिका में जिसे सत्य की ओर का शुभविकल्प न जगे, उसे यथार्थरूप से सत्य का बहुमान नहीं है और उस जीव को सम्यग्दर्शन नहीं होता। गृहस्थ भूमिका में धर्मात्मा को सत्य की स्थापना का शुभराग और असत्य की उत्थापना का शुभद्वेष होता है तथा सत्य देव-गुरु-धर्म की रक्षा और प्रभावना के लिये तन-मन-धन सर्वस्व अर्पणता का शुभराग होता है, परन्तु उस राग-द्वेष को वे उपादेय नहीं मानते, रागरहित स्वभाव को ही उपादेयरूप से स्वीकार करते हैं। उन्हें राग-द्वेष होते हैं, उतना चारित्र का विकार है, परन्तु उस समय भी राग-द्वेष से भिन्न अपने परमपारिणामिकस्वभाव को ही उपादेयरूप से श्रद्धा-ज्ञान में स्वीकार करते हैं, इसलिए उन्हें श्रद्धा-ज्ञान निर्मल है।

श्री तीर्थंकरदेव का जन्म होने पर चौदह ब्रह्माण्ड में उजाला होता है और नारकी के जीवों को भी दो घड़ी साता होती है तथा दीक्षा और केवलज्ञान के समय भी ऐसा होता है। इन्द्र आकर चरण पूजते हैं, परन्तु भगवान तो जन्म से ही मान-अपमानरहित परम चैतन्यस्वभाव को जाननेवाले हैं। इन्द्र पूजे या कोई प्रतिकूलता करे, वे सब संयोग

कर्मोदय का कार्य है। मेरे आत्मा में मान-अपमान के भाव नहीं और कर्मोदय के स्थान भी नहीं। ऐसी श्रद्धा-ज्ञान होने पर भी पर्याय में कदाचित् मान-अपमान का विकल्प उठे तो उसमें ज्ञानी एकमेक नहीं होते परन्तु उस समय भी उस विकल्प से भिन्न अपने परमपारिणामिकस्वरूप में ही अभेदरूप से परिणमते हैं।

श्री पार्श्वनाथ भगवान को दीक्षा के पश्चात् मुनिदशा में भूतड़ा-देव ने (कमठ के जीव ने) आकर मूसलधार वर्षा का उपसर्ग किया था। परन्तु भगवान तो आत्मध्यान में मग्न थे। उन्हें ऐसा विकल्प भी नहीं हुआ कि 'अरे! जो इन्द्र मेरे जन्म के समय बड़ा उत्सव करता है और मेरे चरण की सेवा करता है, उसके दास का दास यह देव आकर मुझे उपसर्ग करता है?' भगवान मान-अपमानरहित स्वरूप को पहले से जानते थे, और फिर स्थिरता द्वारा मान-अपमान का विकल्प भी नहीं होने दिया। उपसर्ग करनेवाले 'कमठ' के ऊपर भगवान को द्वेष नहीं और सेवा करनेवाले इन्द्र के प्रति राग नहीं; वे तो सबसे निरपेक्ष आत्मस्वभाव के ध्यान में रहकर केवलज्ञान प्राप्त करते हैं।

श्री नेमिनाथ भगवान को गृहस्थदशा में मान का विकल्प आया और श्रीकृष्ण की नागशैय्या पर लेट गये और उनका शंख फूंका; तथा एक बार राज्यसभा में श्रीकृष्ण को छोटी अँगुली से टाँगकर झुलाया। परन्तु उस समय भी श्रद्धा में वे अपने मान-अपमानरहित शुद्ध आत्मतत्त्व को ही स्वीकारते थे। जो मान-अपमान के राग-द्वेष होते हैं, उन्हें आत्मस्वरूप नहीं स्वीकारते थे; उस समय भी स्वभाव का आदर था और मान-अपमान का निषेध था। मेरा चैतन्य सहज स्वरूप से त्रिकाल एकरूप है, उसमें मान क्या और अपमान क्या?—ऐसी आत्मदशा का नाम सम्यग्दर्शन है।

श्री ऋषभदेव भगवान को वैराग्य होने पर दीक्षा लेकर मुनि हुए और छह महीने के उपवास किये, छह महीने तक तो आहार के ओर की वृत्ति हुई ही नहीं। तत्पश्चात् आहार की वृत्ति होने पर आहार के लिये जाते थे परन्तु दूसरे छह महीने तक आहार की विधि का योग नहीं बना। देखो! प्रभु के जन्म और दीक्षा के समय तो इन्द्र सेवा करने आये थे और अभी कोई देव भी सम्हाल करने नहीं आते! उनके पुत्र भरत महाराज के यहाँ विधविध भोजन होते हैं और ऋषभदेव मुनि को छह-छह महीने आहार का योग नहीं होता, भरत को भी उनकी सम्हाल का विकल्प नहीं आया।—जब तक आहार का

योग होनेवाला न हो, तब तक ऐसा ही बनता है। देखो! जब आहार का योग बनने का समय आया, तब श्रेयांसकुमार को मंगल स्वप्न आया, जातिस्मरणज्ञान हुआ और उनके घर में विधिपूर्वक आहारदान का प्रसंग बना। आहार नहीं मिला और मिला—इन दोनों के भगवान तो जाननेवाले हैं। आहार की वृत्ति आत्मा में नहीं, मान-अपमान के उदय का स्थान भी आत्मा में नहीं—ऐसे निरपेक्ष आत्मस्वभाव को भगवान अनुभव करते थे।

धर्मी का मान बाहर के मान-अपमान से नहीं होता। महाधर्मात्मा को छह महीने आहार न मिले और अज्ञानी दिन-प्रतिदिन मिष्ठान्न जीमता हो, वह तो सब कर्मप्रकृति का कार्य है। आत्मस्वभाव में मान-अपमान के विकल्प उगने की भूमिका ही नहीं है। जैसे ऊँचे आकाश में वृक्ष नहीं उगते, उसी प्रकार आत्मा के शुद्धस्वरूप में से मान-अपमान के विकल्प उत्पन्न नहीं होते। त्रिकाल आत्मस्वरूप तो निर्विकारी गुणोंस्वरूप है; अज्ञानी भले चाहे जैसा विकार करके उसे अपना स्वरूप माने, परन्तु रागादि विकारभाव एक समयमात्र ही हैं, वे भाव त्रिकाली आत्मस्वरूप में कभी एकमेक नहीं होते, आत्मस्वरूप में विकार टिक नहीं सकता। ऐसे आत्मस्वभाव को मानना-जानना और आदर करना, वह धर्म है।

परमार्थ से रागादिभाव आत्मा का स्वक्षेत्र नहीं है; आत्मा का स्वक्षेत्र चैतन्यमय है, उसमें रागादि नहीं होते। रागादि तो कर्म के क्षेत्र का पाक है। रागादिभाव यद्यपि जीव की पर्याय में होते हैं, परन्तु वह कर्म की उपाधि के कारण से होते हैं, अन्तरस्वभाव में वे नहीं हैं। राग के समय रागरहित जो अखण्ड चैतन्यस्वभाव है, उसका तो निषेध करना और ऊपर के क्षणिक राग को ही आत्मस्वरूप मान लेना, वह मिथ्यादर्शन शल्य है और पर्याय में राग होने पर भी श्रद्धा में उसका निषेध करके राग से निरपेक्ष अखण्ड स्वभाव को स्वीकार करना, वह सम्यग्दर्शन है। आत्मा का जो त्रिकाली पारिणामिक शुद्धभाव है, वही उपादेय है, उसका वर्णन इस अधिकार में है। उसे पहिचानकर उसके आश्रय से पर्याय में जो शुद्धभाव प्रगट होता है, वह शुद्धभाव मोक्षमार्ग है।

★★★★★

नियमसार नवनीत

'इस प्रकार पूर्व में निजज्ञ सूत्रकार ने जो विशुद्ध निजात्मतत्त्व का वर्णन किया और जिसे जानकर भव्य जीव मुक्ति को प्राप्त करते हैं, उस निजात्मतत्त्व को उत्तम सुख की प्राप्ति के लिये मैं भाता हूँ।'

'परमात्मतत्त्व आदि-अन्त बिना का है, दोषरहित है, निर्द्वन्द्व है, और अक्षय विशाल उत्तम ज्ञानस्वरूप है। इस जगत में जो भव्यजन उसकी भावनारूप परिणमते हैं, वे भवजनित दुःखों से दूर ऐसी सिद्धि को प्राप्त करते हैं।'

'जिनके चित्त का चरित्र उदात (-उदार, उच्च, उज्ज्वल) है, ऐसे मोक्षार्थी इस सिद्धान्त का सेवन करो—मैं तो शुद्ध चैतन्यमय एक परमज्योति ही सदा हूँ; और यह जो भिन्न लक्षणवाले विविध प्रकार के भाव प्रगट होते हैं, वह मैं नहीं हूँ, क्योंकि वे सब मुझे परद्रव्य हैं।'

'इस जीवास्तिकाय से अन्य ऐसे जो सब पुद्गल द्रव्य के भाव हैं, वे वास्तव में हमारे नहीं हैं—ऐसा जो तत्त्ववेदी स्पष्टरूप से कहता है, वह अति अपूर्व सिद्धि को प्राप्त करता है।'

— **नियमसार, शुद्धभाव अधिकार**

व्याख्यान नं. २७, वीर संवत् २४७०, ज्येष्ठ कृष्ण १०, बुधवार

(गाथा ३९ चालू)

यह शुद्धभाव अधिकार है। आत्मा का त्रिकाली स्वभाव, वह 'शुद्धभाव' है। उस त्रिकाली शुद्धभाव की श्रद्धा करने से पर्याय में शुद्धभाव प्रगट होता है, वह मोक्ष का कारण है, वही धर्म है। यहाँ त्रिकाली शुद्धभाव का वर्णन चलता है। शुद्ध जीवस्वभाव में विभाव स्थान नहीं है, तथा मान-अपमान के हेतुभूत कर्मोदय स्थान भी नहीं है—यह बतलाया। अब हर्षस्थानों का अभाव बतलाते हैं। 'शुद्ध जीवतत्त्व में शुभपरिणति का अभाव होने से शुभकर्मों का अभाव है, शुभकर्मों का अभाव होने से सांसारिक सुख का अभाव है और सांसारिक सुख का अभाव होने से हर्षस्थान जीव को नहीं है।'

संसार के सुख का कारण पुण्य है। पुण्यभाव निश्चय से आत्मा में होता ही नहीं; इसलिए आत्मा में संसारसुख का अभाव है। त्रिकाली आत्मतत्त्व की एकाग्रता से हटकर बाहर में झुकाव हो, तब शुभभाव होता है और उसके फल में बाहर का अनुकूल संयोग मिलता है, उसके लक्ष्य से हर्षभाव होता है। परन्तु शुभभाव ही आत्मा के स्वरूप से बाहर है। क्षणिक विकारभाव जितना त्रिकाली स्वभाव नहीं, इस अपेक्षा से कहा कि आत्मा में शुभभाव ही नहीं है। इसलिए आत्मा में सांसारिक सुख नहीं है और सांसारिक सुख नहीं होने से हर्षभाव आत्मा में नहीं है। आत्मा का सहजसुख हर्ष से रहित है। हर्ष तो सांसारिक सुख के लक्ष्य से होता है। सांसारिक सुख पुण्य से मिलता है; पुण्य शुभपरिणति से बँधता है। शुभपरिणति को क्षणिक अवस्था है, वह क्षणिक अवस्था त्रिकाली स्वरूप में नहीं है; इसलिए आत्मा में हर्षभाव नहीं। ऐसे आत्मस्वरूप की श्रद्धा, वही सच्ची श्रद्धा है।

संसार के असार सुख भगवान आत्मा में नहीं हैं। संसार सुख, वह वास्तव में तो दु:ख है। उस संसार सुख का कारण पुण्य है। पुण्य का कारण शुभभाव है और शुभभाव का उत्पत्ति स्थान भगवान आत्मस्वभाव में नहीं है। संसार के सगे, वे तो सब शत्रु समान हैं, क्योंकि वे तो जीव को मोह के निमित्त हैं। 'यह मेरा और मैं इसका', ऐसा मोहभाव

कर-करके जीव उससे भिन्न अपना स्वरूप नहीं जानता। अनन्त काल में दुर्लभ ऐसा मनुष्यपना मिला और यदि अभी पर से और पुण्य से भिन्न अपने त्रिकाली चैतन्यतत्त्व का भान नहीं किया तो इसका जीवन अणसिया—कीड़े जैसा है। जिसने जीवन में पर से भिन्न स्वरूप को जाना नहीं, वह जीव मृत्यु के समय पर में एकमेकपने की मिथ्या मान्यता में दब जाता है। मैं सदा एकरूप चैतन्यस्वरूप से परिपूर्ण हूँ, पर से भिन्न हूँ और क्षणिक पुण्यपाप से भी मेरा स्वरूप भिन्न है—ऐसे श्रद्धा-ज्ञान के जोर से धर्मात्मा जीव आत्मा के स्वभाव की शान्ति के अनुभव में झूलते हैं और उन्हें समाधिमरण होता है; उन्हें देह की प्रीति नहीं और शुभभाव की भी प्रीति नहीं। राग के फल में इन्द्रादि पद मिलें, उनकी भी प्रीति नहीं। वे अपने पारिणामिकस्वभाव को ही उपादेय मानते हैं। ऐसे स्वभाव की समझ किये बिना धर्म नहीं होता।

जीव का मूलस्वरूप क्या है कि जिसे मानने से सुख हो और दु:ख टले? इसका इस अधिकार में वर्णन है। जीव का सच्चा स्वरूप जाने बिना मिथ्यास्वरूप (अशुद्धता) नाश नहीं होता। यदि शुद्ध जीवस्वरूप को जाने तो पर्याय में शुद्धता प्रगटे और अशुद्धता टले, अर्थात् यदि शुद्धात्मस्वरूप को पहिचाने तो धर्म हो और अधर्म टले। आत्मा को विकारस्वरूप श्रद्धा करना, वह अधर्म है और विकाररहित त्रिकाल शुद्धस्वरूप श्रद्धा करना, वह धर्म है। 'शुद्धस्वरूप, वह मैं और विकार मैं नहीं'—ऐसा माने बिना विकार को नहीं टाला जा सकता। जीव अनादि से विकारस्वरूप तो अपने को मानता आता है। इसीलिए अज्ञान है; वह अज्ञान छुड़ाने के लिये आचार्यदेव यहाँ विकाररहित त्रिकाल आत्मद्रव्य समझाते हैं। उसकी श्रद्धा से ही सम्यग्दर्शन होता है।

जैसे शरीर के अल्प भाग में फोड़ा हुआ हो, वह फोड़ा पूरे शरीर में नहीं है—ऐसा यदि समझे तो रोग टालकर निरोग होने का भाव करता है। इसी प्रकार जीव की क्षणिक अवस्था में हर्षादि विकारभाव है, वह पूरे जीव में नहीं है। (दृष्टान्त में क्षेत्र से बात है, सिद्धान्त में भाव से बात है)। उस विकार के नाश से जीव का नाश नहीं हो जाता और अभी भी क्षणिक विकारमय पूरा द्रव्य नहीं हो गया।—ऐसा यदि समझे तो उस द्रव्य के आधार से विकार पर्याय टाले और निर्विकारदशा प्रगट करे। परन्तु यदि क्षणिक विकार को ही आत्मस्वरूप मान ले तो वह विकार का नाश नहीं कर सकेगा।

अपने मुँह पर एक तिल जितना काला या सफेद दाग पड़ा हो और दर्पण में उसका प्रतिबिम्ब दिखाई दे, वहाँ 'यह दाग मेरे मुँह पर नहीं परन्तु दर्पण में है' ऐसा मानकर कोई दर्पण को घिसने लगे तो उसका दाग नहीं मिटता। दूसरा कोई ऐसा माने कि यह दाग मेरे शरीर का मूलस्वरूप है, तो वह भी उस दाग को निकालने का प्रयत्न नहीं करेगा। परन्तु अपने मुँह पर ही दाग है और वह मुँह का मूलस्वरूप नहीं है, ऐसा जो जानता है, वही उस दाग को निकालता है। उसी प्रकार चैतन्यपिण्ड आत्मा है, उसकी अवस्था में पुण्य या पापरूप दाग है-विकार है। अब यदि शरीर, मन, वाणी और कर्म के कारण वह विकार माने तो वह पर के सामने ही देखा करेगा, परन्तु अपने सामने नहीं देखेगा और उसका विकार नहीं मिटेगा और उस विकार को आत्मा का मूलस्वरूप ही माने तो भी उस विकार को मिटाने का प्रयत्न नहीं करेगा। 'मेरी अवस्था में विकार होता है, परन्तु मैं स्वयं विकारी नहीं हो गया, मेरा आत्मा सिद्ध भगवान जैसा विकाररहित है, पूरे द्रव्य को देखने से मुझमें विकार का अभाव है'—ऐसा यदि समझे तो स्वभाव के आधार से रहकर विकार को टाले।

जो जीव अपनी विकारी अवस्था को मानता ही नहीं अथवा तो कर्म विकार कराते हैं, ऐसा मानता है, वह एकान्तवादी महामूढ़ है। और जो जीव अपनी विकारी अवस्था को आत्मस्वभाव मानता है, वह जीव भी पर्यायमूढ़ मिथ्यादृष्टि है। जो क्षणिक पर्याय में होनेवाले विकार को जानता है, परन्तु उस विकार जितना अपना स्वरूप नहीं मानता, त्रिकाली शुद्ध द्रव्य की प्रतीति करके उसे ही उपादेय मानता है, वह जीव सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा है।

आत्मा की दशा में जड़कर्म के निमित्त से राग-द्वेष होते हैं; वह राग-द्वेष कहीं जड़कर्मों में नहीं होते, तथा आत्मा के पूरे स्वरूप में भी वे राग-द्वेष नहीं होते, क्षणिक राग-द्वेष मोहभाव जितना आत्मस्वरूप नहीं है; उस आत्मस्वरूप की अपेक्षा से आत्मा में भी रागादिभाव नहीं होते, यह द्रव्यदृष्टि है और द्रव्यदृष्टि से रागादि का अभाव है। पर्यायदृष्टि से क्षणिक अवस्था में रागादि होते हैं, वे हेय हैं और उनसे रहित परमशुद्ध आत्मा ही उपादेय है। ऐसे श्रद्धा-ज्ञान करना, वह शुद्धभाव है और वह मुक्ति का कारण है।

आत्मा त्रिकाल निरुपाधिस्वरूप शुद्ध चैतन्यवस्तु है। उसमें से हटकर बाहर झुकाव हो, तब पर्याय में शुभभाव होते हैं। इस शुभभाव से पुण्य बँधता है, वह आत्मस्वरूप नहीं है। उस पुण्य के फल में देव-गुरु-शास्त्र या स्त्री-पुत्र-लक्ष्मी इत्यादि बाह्यसंयोग मिलते हैं, वे भी आत्मस्वरूप नहीं हैं और उन संयोग के प्रति जो हर्षभाव होता है, वह भी आत्मस्वरूप नहीं है। पुण्य, उसका फल या उसके फल में हर्ष, इन तीनों की उपाधिरहित आत्मस्वभाव है। उसे नहीं जाननेवाले अज्ञानी जीव ऐसा मानते हैं कि मैं यह पुण्यभाव करता हूँ और उसके हर्षरूप फल को मैं भोगता हूँ तथा पुण्य के फल में प्राप्त जड़पदार्थों में मेरा सुख है, इसलिए वह मिथ्यादृष्टि जीव विकाररूप ही अपने को अनुभव करता है। शुद्ध ज्ञानचेतना को अनुभव नहीं करता परन्तु कर्मचेतना को तथा कर्मफलचेतना को अनुभव करता है; विकार के कर्ता-भोक्तापने से रहित आत्मस्वभाव है, उसे जानता नहीं-मानता नहीं-अनुभव नहीं करता।

जैसे पर की चीज़ लेनेवाला चोर है-डाकू है; उसी प्रकार जो परवस्तु को अपनी मानता है, वह मिथ्यादृष्टि चोर है। परवस्तु को देखकर हर्ष करना, वह भी आत्मा के घर की चीज़ नहीं है। उस हर्षभाव को जो आत्मा की चीज़ मानकर अंगीकार करता है, वह जीव परभावों को अपना मानता है, इसलिए चोर है-अधर्मी है। धर्मी जीवों को भी अवस्था में हर्ष इत्यादि भाव होते हैं, परन्तु उस भाव को धर्मी जीव अपना स्वरूप नहीं मानते अर्थात् कि उस भाव में एकता नहीं करते परन्तु उससे रहित चैतन्यस्वभाव में एकता करते हैं। शुभपरिणति हो, उसे जाने सही, परन्तु उसे आत्मा में उपादेय नहीं मानते, इसलिए उसके बाह्य फल को तथा उसमें हर्ष हो, उसे भी वे अपने स्वरूप में नहीं मानते। सर्व विभावरहित त्रिकाल एकस्वरूप स्वभाव का ही उन्हें आदर है और क्षणिकभाव, विकारभाव या परपदार्थों का उन्हें आदर नहीं अर्थात् उनके ऊपर दृष्टि नहीं।

रागादिभाव और अपूर्णता के समय ही आत्मा का स्वभाव शुद्ध परिपूर्ण है, उसकी यहाँ श्रद्धा कराते हैं। क्योंकि उसकी श्रद्धा बिना धर्म की शुरुआत नहीं होती। जो जीव शुद्धस्वरूप की श्रद्धा नहीं करता और शुभराग को आदरणीय मानता है, वह जीव उसके फलरूप लक्ष्मी इत्यादि परद्रव्यों में एकत्वबुद्धि करता है तथा हर्षभाव को ही

अपना स्वरूप मानकर भोगता है। उसे 'शुद्धभाव' की (निरुपाधि पारिणामिकभाव की) श्रद्धा नहीं है, इसलिए उसे पर्याय में भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव प्रगट नहीं होता अर्थात् उसे धर्म नहीं होता।

अपने स्वभाव के कारण राग नहीं होता, पर के आश्रय से ही राग होता है, इसलिए वह राग आत्मा का स्वभाव नहीं है और उसके फलरूप जो हर्षस्थान, वह भी आत्मा के स्वरूप में नहीं है। इसलिए हे भाई! हर्ष इत्यादि क्षणिक भावोंरहित तेरा त्रिकाली स्वभाव क्या है?—कि जो क्षणिक हर्षभाव की उत्पत्ति के पहले भी ऐसा का ऐसा था, क्षणिक हर्षभाव के समय भी ऐसा ही है और क्षणिक हर्षभाव के नाश के पश्चात् भी स्वयं ऐसा ही रहता है, उस स्वभाव को तू पहिचान और उसका ही आदर कर, जिससे तेरे संसार का अन्त आवे।

इस गाथा में आचार्य भगवान शुद्ध आत्मा का वर्णन करते हैं। आत्मा उदय-उपशम-क्षयोपशम और क्षायिकभाव जितना क्षणिक नहीं है। तथा उसमें मान-अपमान इत्यादि भाव या हर्षभाव नहीं है, उसका वर्णन किया। अहर्षभाव भी आत्मा में नहीं है, ऐसा अब कहते हैं। 'आत्मा के स्वभाव में अशुभपरिणति का अभाव होने से अशुभकर्मों का अभाव है; अशुभकर्मों का अभाव होने से दु:ख का अभाव है और दु:ख के अभाव के कारण अहर्षस्थान जीव को नहीं है।'—ऐसे जीव को जो मानता है, वह धर्मी है।

यह भगवान आत्मा की अवस्था में जो हिंसा-चोरी इत्यादि पापभाव होते हैं, वे क्षणिक अशुभ परिणति है, पूरा आत्मा वैसा नहीं हो गया है, इसलिए पूरे आत्मा में वे अशुभभाव नहीं हैं। जैसे खान में हीरा या कोयला भरा हुआ है, वैसे आत्मा में कोई शुभ या अशुभभाव भरे हुए नहीं हैं। वे भाव तो नयी कृति है, वह बाहर के लक्ष्य से एक-एक समयमात्र नये होते हैं और दूसरे समय में नाश पाते हैं, परन्तु उनकी भाँति आत्मस्वभाव कहीं नया नहीं होता अथवा नाश नहीं पाता। इसलिए आत्मा के स्वभाव में उन विकारीभावों का अभाव है। ऐसे अपने स्वरूप को धर्मी जीव मानता है। एकसमयमात्र के विकारीभाव को धर्मी जीव अपना स्वरूप नहीं मानते। धर्मी जीवों की सच्ची दृष्टि में सदा ही शुद्ध आत्मस्वभाव की ही अस्ति है और विकार का अभाव है—ऐसी दृष्टि, वही मोक्ष का उपाय है।

अपना आत्मा सिद्ध भगवान जैसा परिपूर्ण है, विकाररहित है—ऐसा जानकर, और वही उपादेय है—ऐसा निर्णय करके धर्मी जीव उस शुद्धात्मा के ध्यान द्वारा विकार का नाश करते हैं। जैसे सिद्ध प्रभु हैं, वैसा ही इस आत्मा का स्वभाव है। पर्याय में विकार होने पर भी अभी ही सिद्ध भगवान जैसा स्वभाव है। यदि अभी आत्मा पुण्य-पापरहित सिद्ध भगवान जैसा न हो तो, बाद के समय में विकार टालकर सिद्धदशा प्रगट नहीं हो सकती। जो जीव अपने को सिद्ध जैसा न माने और विकारी ही माने, वह जीव सदा विकारी ही रहता है। जो जीव अपने को सिद्ध जैसा मानता है और विकारी नहीं मानता, वह जीव स्वभाव की श्रद्धा के जोर से विकार का क्षय करके सिद्ध होता है। पुण्य-पाप टालकर सिद्धदशा प्रगट होती है, इससे निश्चित होता है कि पुण्य-पाप के समय भी आत्मा सिद्ध जैसा है, पुण्य-पाप उसका स्वरूप नहीं है। आत्मद्रव्य में पुण्य-पाप नहीं है। ऐसे आत्मद्रव्य को ज्ञान में जब तक बराबर निर्णय न करे, तब तक जीव को सम्यग्दर्शन नहीं होता और सम्यग्दर्शन बिना भवभ्रमण रुकता नहीं।

आत्मस्वभाव में अशुभपरिणति नहीं है। अवस्था में अशुभभाव होता है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं और उसके निमित्त से जो पापकर्म बँधते हैं, वे तो जड़ हैं, उनका भी आत्मा में अभाव है। जगत के जड़ परमाणुओं में पापकर्मरूप परिणमन है अवश्य, परन्तु आत्मा में उसका अभाव है। एक वस्तु में दूसरी वस्तु प्रवेश नहीं कर सकती, स्वतन्त्र रहने का प्रत्येक वस्तु का स्वभाव है। जैसे पानी और कंकड़ इकट्ठे रहने पर भी पानी कंकड़रूप नहीं हो जाता और कंकड़ पानीरूप नहीं हो जाते, अथवा तो जैसे दूध और पानी एक जगह में रहे हुए होने पर भी वास्तव में वे दूध और पानी भिन्न-भिन्न स्वरूप से ही रहे हैं; उसी प्रकार आत्मा और कर्म एक जगह रहे होने पर भी दोनों अपने-अपने स्वरूप से भिन्न ही है—आत्मा कभी जड़रूप नहीं होता और जड़कर्म कभी आत्मारूप नहीं होते; तथा शरीर से भी आत्मा भिन्न ही है।

अशुद्धभाव आत्मा के स्वभाव के आधार से नहीं होते, परन्तु निमित्तों के आधार से ही होते हैं, इसलिए त्रिकाली स्वभाव में अशुभ परिणति की उपाधि नहीं है। अशुभ परिणति से जड़कर्म बँधते हैं और उनका उदय होने पर बाहर के प्रतिकूल संयोग (-रोग इत्यादि) प्राप्त हुए, वे भी जीव में नहीं हैं। बाहर के प्रतिकूल संयोगों को ही

अज्ञानी दु:ख कहते हैं, परन्तु आत्मा में उनका अभाव है, उन प्रतिकूल संयोगों के समय जो अरूचिरूप खेदभाव होता है, वह भी जीव में नहीं है। अज्ञानी जीव, बाहर की वस्तुएँ आत्मा को नुकसान करती है, ऐसा मानते हैं और प्रतिकूलता में अरुचि करते हैं, वास्तव में जीव को कोई परवस्तु नुकसान नहीं करती और प्रतिकूलता के समय अरुचि करने का जीव का स्वभाव नहीं है। अनुकूलता में हर्ष और प्रतिकूलता में शोक—इन दोनों से रहित आत्मस्वभाव है।

ज्ञानी जानते हैं कि अशुभभाव होता है, वह जीवस्वरूप नहीं है। उस अशुभभाव से जो पापकर्म बँधते हैं, वह जीवस्वरूप नहीं है। पापकर्म का उदय होने पर बाहर में प्रतिकूल संयोग आये, वे जीवस्वरूप नहीं और उस प्रतिकूलता के समय जो अहर्षभाव होता है, वह भी जीवस्वरूप नहीं। जीव का स्वरूप उन सबसे अगोचर है। अज्ञानी ने अपने मूल तत्त्व को नहीं जाना, इसलिए बाहर में सामान खड़ा किया है कि 'अशुभपरिणाम हुए वह मैं, उनसे पापकर्म बँधे वे मेरे, उनके उदय से प्रतिकूल संयोग आये, वे मुझे दु:ख करनेवाले और उन संयोगों के प्रति खेदरूप अहर्षभाव हो, उसका भोगनेवाला मैं'—इस प्रकार बहिर्दृष्टि से ही अज्ञानी ने संसार खड़ा किया है और विकार को अपना स्वरूप मानकर वह संसार में भटकता है।

आत्मा सहजस्वभाव से आनन्द की मूर्ति है, उसमें दु:ख नहीं है। परन्तु अज्ञानी जीव अन्तरतत्त्व को भूलकर बाहर में ही अपनापन मान रहा है; इसलिए बाहर की अनुकूलता से अपने को सुखी मानकर हर्ष करता है और बाहर की प्रतिकूलता से अपने को दु:खी मानकर शोक करता है। श्री आचार्यदेव कहते हैं कि—ऐसे हर्ष या शोकरूप भाव आत्मा में नहीं है। आत्मा को बाहर के पदार्थों से सुख-दु:ख नहीं है तथा आत्मा की चैतन्यभूमि में हर्ष-शोक का स्थान नहीं है। ऐसी सम्यक्श्रद्धा किये बिना जीव को स्वभाव की जागृति और शान्ति नहीं होती और विकारभाव नहीं मिटता।

बाहर में अपयश मिले, अपमान हो, हार हो, प्रतिकूलता आवे, वह सब पापप्रकृति का कार्य है। लोग कहते हैं कि अभी तो चारों ओर अराजकता है, अनाज मिलता नहीं, चीनी-केरोसिन मिलता नहीं, सब वस्तुएँ महँगी हैं, दु:खी-दु:खी हो गये हैं—इस प्रकार मूढ़ जीव बाहर की प्रतिकूलता से दु:खी मानता है और उसमें शोक करता है।

वास्तव में किसी को भी बाहर का दु:ख नहीं है, परन्तु अपनी मूढ़ता का दु:ख है। अभी है, इसकी अपेक्षा अनन्तगुने प्रतिकूल संयोग अनन्त बार आ गये हैं। महापाप करके सातवें नरक में अरबों-अरबों वर्षों तक रहा। वहाँ तो कभी चावल का कण, पानी की बूँद या वस्त्र का धागा भी नहीं मिलता। ऐसे संयोग में रहने पर भी जीव का एक प्रदेश भी कम नहीं हुआ तथा जीव के गुणों में से एक अंश भी कम नहीं हुआ; ऐसा का ऐसा पूरा स्वभाव है। इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीव! बाहर के संयोग से तू भिन्न है और उस संयोग के लक्ष्य से जो हर्ष-शोक के भाव होते हैं, वे भी तेरे स्वभाव नहीं हैं। तेरा स्वभाव सहज चैतन्यरूप है, उस स्वभाव को समझ, तो फिर से कभी इस संसार के दु:ख तुझे भोगना नहीं पड़ेंगे।

यह आत्मा सिद्ध भगवान जैसा है। जैसे सिद्ध के आत्मा में विकार या दु:ख की उत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार इस आत्मा के चैतन्य क्षेत्र में दु:ख या विकार नहीं पकते; आत्मा के चैतन्यक्षेत्र में तो अतीन्द्रिय आनन्द पकता है। विकारभाव हों, वह चैतन्यभूमि का पाक नहीं है और चैतन्यभूमि के आधार से वह टिकता नहीं। जैसे कोई जमीन ऐसी होती है कि उसमें आम के वृक्ष ही उगते हैं, उसी प्रकार इस आत्मा की चैतन्यभूमि का ऐसा स्वभाव है कि उसमें हर्ष-शोकरहित परम आनन्दमय भाव ही उगें—प्रगट हों, उसमें कोई विकारभाव उगे नहीं। आत्मा का त्रिकाल स्वभाव विकाररहित है।

ऐसा परमपारिणामिकभावरूप निरपेक्ष चैतन्यस्वभाव बताकर श्री आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! तू ऐसे शुद्ध जीवतत्त्व की श्रद्धा कर। 'मैं रागी हूँ, मैं द्वेषी हूँ, मैं विकार का कर्ता हूँ, मैं जड़ की क्रिया का कर्ता हूँ' ऐसी अशुद्ध आत्मा की श्रद्धा तो तूने अनादि काल से की है और उस मिथ्याश्रद्धा के कारण ही तू संसार में भटक रहा है। इसलिए अब 'वह विकार मैं नहीं' परन्तु 'परम शुद्ध आत्मा, वही मैं हूँ' ऐसी शुद्धात्मा की श्रद्धा कर तो तेरे आत्मा में शुद्धभाव प्रगटे और तेरा अविनाशी कल्याण हो।

'आत्मा सर्वथा शुद्ध है, उसे पर्याय में भी विकार होता ही नहीं'—ऐसा सर्वथा एकान्तरूप से आत्मा को शुद्ध मान लेना, वह कोई शुद्धात्मा की श्रद्धा नहीं है; वह तो अत्यन्त मिथ्याश्रद्धा है। यदि पर्याय में भी विकार होता ही न हो तो अभी परमानन्दमय शुद्धपर्याय प्रगट होनी चाहिए, क्योंकि पर्याय बिना की कोई वस्तु होती ही नहीं। जिसने

पर्याय को ही नहीं माना, उसने वास्तव में आत्मवस्तु को ही नहीं माना और उसे आत्मा की सच्ची श्रद्धा नहीं होती, इसलिए 'आत्मा तो शुद्ध ही है, पर्याय भी सर्वथा शुद्ध है'—ऐसी मान्यता, वह मिथ्याश्रद्धा ही है—ऐसा समझना।

जैसे वेदान्ती लोग आत्मा को एकान्त शुद्ध मानते हैं और पर्याय को सर्वथा मानते ही नहीं, वैसा यहाँ नहीं समझना। यहाँ तो आत्मा के त्रिकाली स्वभाव को तथा विकारी पर्याय को—दोनों को ज्ञान में स्वीकार कर, त्रिकाली स्वभाव की मुख्यता से विकार का निषेध करके, शुद्ध आत्मा की श्रद्धा की जाती है और वही सम्यक्श्रद्धा है।

आत्मा की पर्याय में विकार होता ही नहीं—ऐसा जो मानता है, वह जीव मिथ्यादृष्टि है। कर्म इत्यादि परपदार्थ विकार कराते हैं—ऐसा माने, वह भी मिथ्यादृष्टि है; और आत्मा अपने स्वभाव से ही विकार का कर्ता है अर्थात् विकार, वह आत्मा का स्वभाव है, उससे आत्मा को लाभ होता है—ऐसा माने, वह भी मिथ्यादृष्टि है। अपनी पर्याय में विकार होता है, उसे जो जानता है; परपदार्थ या कर्म विकार करावे, ऐसा मानता नहीं तथा स्वभावदृष्टि से विकार का कर्ता स्वयं नहीं होता—विकार को अपना स्वभाव नहीं मानता, इसलिए विकाररहित त्रिकाली शुद्धस्वभाव को ही उपादेय मानता है, विकार को उपादेय नहीं मानता, ऐसा जीव सम्यग्दृष्टि है। उसे शुद्ध स्वभाव का आदर होने से उसके आत्मा में क्षण-क्षण में पर्याय-पर्याय में शुद्धभाव बढ़ता जाता है और विकारी भावों का आदर नहीं होने से क्षण-क्षण में विकार टलता जाता है। यही मुक्ति का उपाय है।

अब, टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारिदेव एक श्लोक कहते हैं, उसमें भव्य जीवों को शुद्धात्मा में ही अपनी बुद्धि लगाने की प्रेरणा करते हैं :—

(शार्दूलविक्रीडित)

प्रीत्यप्रीतिविमुक्तशाश्वतपदे निःशेषतोऽन्तर्मुख-
निर्भेदोदितशर्मनिर्मितवियद्बिम्बाकृतावात्मनि ।
चैतन्यामृत-पूर-पूर्ण-वपुषे प्रेक्षावतां गोचरे,
बुद्धिं किं न करोषि वाञ्छसि सुखं त्वं सन्सृतेर्दुःकृतेः ।।५५।।

हे भव्य जीव! इस दुःखरूप संसार परिभ्रमण में यदि तू आत्मा के सुख को

चाहता है तो तेरी बुद्धि को शुद्ध आत्मा में क्यों नहीं जोड़ता? शुद्धात्मा प्रीति और अप्रीति से विमुख शाश्वत् पद में विराजमान है, सम्पूर्ण अन्तर्मुख भेदरहित उदयमान है, सुखमय है, निराकार है और चैतन्यरूपी अमृत के पूर से भरपूर जिसका शरीर है तथा आत्मस्वरूप के शोधक जीवों को जो अनुभवगोचर है—ऐसे शुद्धात्मा के अभ्यास में ही भव्य जीवों को अपनी बुद्धि जोड़ना चाहिए। विकार में बुद्धि जोड़ने से संसार में परिभ्रमण होता है और शुद्धात्मा में बुद्धि जोड़ने से संसार का नाश होकर मुक्तदशा प्रगट होती है।

श्री आचार्यदेव करुणापूर्वक कहते है कि हे जीव! मैंने 'पर का किया, मैंने पर को दान दिया, मैंने विकार किया'—इस प्रकार के मोहभाव से तू संसार के दु:ख में जल रहा है। उस दु:ख से यदि तू छूटना चाहता हो और आत्मा का आनन्द प्रगट करना चाहता हो तो, राग-द्वेषरहित भगवान शुद्धात्मा में तेरी बुद्धि जोड़, उसकी श्रद्धा और ज्ञान कर। यदि तुझे विषयों के सुखों की रुचि नहीं और सच्चे सुख की इच्छा है तो साक्षीस्वरूप आनन्दकन्द आत्मा में तेरे ज्ञान को क्यों नहीं लगाता?—और विकार में ही तेरे ज्ञान को क्यों भ्रमाता है? पुण्य और पाप ये दोनों भाव कृत्रिम हैं, जिसमें तेरा सुख नहीं है। इन दोनों भावों से रहित तेरा चैतन्यपद शाश्वत् है, उसमें ही तेरा सुख है। अव्रत और व्रतरूप भाव विकार है; शुद्धात्मा उस विकार में नहीं विराजता परन्तु विकाररहित शाश्वत् पद में विराजमान है। आत्मा के गुण बाहर से नहीं आते, परन्तु स्वयं ही सब गुणों से पूरा है। अपनी चैतन्यसत्ता में अनन्त गुणों से आत्मा शोभ रहा है, शुभ-अशुभभावों से चैतन्य की शोभा नहीं है। चैतन्यकमल में आत्मा स्वयं भगवानरूप से सिद्ध जैसा विराजमान है। इसके अतिरिक्त बाहर के अरिहन्त और सिद्ध भगवान की भक्ति करने से वे कहीं आत्मा को धर्म देनेवाले नहीं हैं। अपने स्वभाव की पहिचान बिना भगवान की भक्ति इत्यादि में धर्म माने, वह तो अज्ञानी है—अधर्मी है।

प्रश्न—धर्मी जीव भी भगवान की भक्ति तो करते हैं, तो फिर भक्ति में धर्म माने, उसे अधर्मी कैसे कहा?

उत्तर—शुद्धात्मा का अनुभव हुआ होने पर भी, चारित्रगुण की अस्थिरता के कारण राग होने से धर्मी जीवों को भगवान के प्रति बहुमान, भक्ति-पूजादि का विकल्प

आता है, परन्तु उस राग को वे धर्म नहीं मानते। अज्ञानी जीव तो उस राग को ही धर्म मानता है, इसलिए उस उल्टी मान्यता के कारण वह अधर्मी है। 'हे सिद्ध भगवन्तों! मुझे सिद्धि दो, हे तीर्थंकर भगवन्तों! मुझ पर प्रसन्न होओ' ऐसा धर्मी जीव बोलते हैं, परन्तु अन्तर में भान है कि भगवान मुझे कुछ देते नहीं और भगवान की ओर के राग से भी मेरा कल्याण नहीं है, वह मात्र उपचार की भाषा है, उस भाषा का कर्ता भी मैं नहीं और शुभविकार का कर्ता भी मैं नहीं। अपने को अपने आत्मा के श्रद्धा-ज्ञान प्रगट हुए हैं, इसलिए विभावभाव के कारण भगवान पर आरोप करके कहते हैं। जैसे कलश पानी का नहीं होता, परन्तु धातु का होता है, तथापि 'पानी का कलश' ऐसा उपचार से बोला जाता है। उसी प्रकार भगवान तो वीतराग हैं, वे किसी की भक्ति से प्रसन्न नहीं होते और कोई निन्दा करे तो उन्हें द्वेष नहीं होता, तथापि 'भगवान प्रसन्न होओ' ऐसा भक्तिभाव के कारण उपचार से बोला जाता है।

हे मोक्षार्थी जीवों! यह शुद्धात्मा अन्तर्मुखरूप से भेदरहित प्रकाशमान है, उसे तुम पहिचानो। अन्तर्मुख स्वभाव, वह धर्म है और बहिर्मुखभाव, वह अधर्म है। साक्षात् तीर्थंकरभगवान के प्रति भक्ति का शुभराग और स्त्री इत्यादि के प्रति का अशुभराग—ये दोनों बहिर्मुखभाव हैं, उसमें आत्मा प्रकाशमान नहीं है। और 'मैं ज्ञान हूँ', ऐसे भेदरूप विकल्प में भी आत्मा प्रकाशमान नहीं। आत्मा तो सर्व शुभ-अशुभरहित सम्पूर्ण अन्तर्मुख स्वरूप में भेदरहित सदा प्रकाशमान है। ऐसे स्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान करके उसमें एकाग्र होना, वह सच्चे सुख का उपाय है। आत्मा सम्पूर्णरूप से अन्तर्मुख उदयमान है, अर्थात् कि बहिर्मुखभाव का अंश भी आत्मा के स्वभाव में नहीं है। बहिर्मुख झुकाव से शुद्धभाव नहीं होता परन्तु शुभाशुभभाव ही होते हैं; और अन्तर्मुख झुकाव से शुद्धभाव होता है; शुभाशुभभाव नहीं होते।

'आत्मा सर्व प्रकार से अन्तर्मुख उदयमान है'—ऐसा कहकर आचार्यदेव ने सर्व बहिर्मुख पराश्रयभावों को तोड़ दिया है; किसी भी प्रकार के पराश्रयभाव से आत्मा को धर्म नहीं होता। जिसे आत्मा का सच्चा सुख चाहिए हो, उसे भेदरहित, सदा उदयमान, अखण्डानन्द चैतन्यमूर्ति आत्मस्वभाव में एकता करनी पड़ेगी। सूर्य तो मात्र दिन में उदय होता है, आत्मा तो अन्तरंग में सदा उदयमान है। वर्तमान में पूरी पर्याय भले प्रगट

न हो, परन्तु अन्तरंग स्वभाव को देखो तो वह सदा उदयरूप ही है, कभी आत्मस्वभाव ढँकता नहीं। साधकजीव ऐसे स्वभाव को मुख्यरूप से देखनेवाला होता है, पर्याय को मुख्यरूप से नहीं देखता, इसलिए स्वभाव की मुख्यता से उसे पर्याय में निर्मलता बढ़ते-बढ़ते पूर्णता प्रगट होती है। अज्ञानी जीव पर्याय को ही मुख्य करके वहाँ अटक जाता है, इसलिए उसकी पर्याय हीन होती जाती है।

उस आत्मस्वभाव में भेद नहीं है; किसी भेद द्वारा वह प्रगट नहीं होता। आकाश की भाँति निरालम्बन चैतन्यबिम्ब है, उसे जड़ पुद्गल जैसा रूपी आकार नहीं है, परन्तु अरूपी चैतन्य आकार है। जड़ को ही आकार हो और चैतन्य को आकार न हो, ऐसा कोई नियम नहीं है तथा रूपी वस्तु को ही आकार है और अरूपी वस्तु को आकार न हो—ऐसा नियम भी नहीं है। आत्मा, वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शरूप आकाररहित और अरूपी चैतन्यबिम्ब आकारसहित अविनाशी सुखमय है।

शुद्धात्मा आदरणीय है, वह कैसा है ? उसका वर्णन चलता है। राग-द्वेष दोनों भाव अशुद्ध हैं, आत्मा के शुद्धभाव से वे भिन्न हैं। आत्मा अविनाशी शाश्वत् पद में विराजमान है और सहज सुखरूप है। मोक्षदशा में कहीं आत्मा नया प्रगट नहीं करना पड़ता, परन्तु विकार और स्वभाव को भिन्न-भिन्न जानकर स्वभाव की एकाग्रता करने से विकार टल जाता है, और शुद्धस्वभाव जैसा है, वैसा रह जाता है। कहीं 'शुद्धात्मा' प्रगट नहीं होता परन्तु उसका अनुभव नया प्रगट होता है; शुद्धात्मा का अनुभव प्रगट होने पर 'शुद्धात्मा ही प्रगट हुआ, ऐसा कहा जाता है' शुद्धात्मा को नया नहीं करना पड़ता; विकार तो नया-नया करता है, तब ही होता है। यदि विकार न करे तो सहज शुद्धस्वभाव जैसा है, वैसा ही रह जाता है और विकाररहित शुद्धभाव प्रगट होता है—इसका नाम मुक्ति है।

आत्मा को जड़शरीर नहीं और आत्मा को विकाररूप शरीर भी नहीं है, विकार के साथ एकमेक नहीं। परन्तु आत्मा तो चैतन्यरूपी अमृत से भरपूर शरीरवाला है। चैतन्य अमृत, वही आत्मा है। आत्मा अरागी-अद्वेषी चैतन्यरसकन्द अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर है, वही उसका स्वरूप है और वही उसका शरीर है। आत्मा का यह शरीर कभी स्वयं से पृथक् नहीं पड़ता। बाह्य जड़शरीर तो धूल का है, वह तो स्वभाव से ही मलिन है। आत्मा का अन्तरंग चैतन्यशरीर है, वह स्वभाव से ही पवित्र है। क्षणिक

अवस्था जितना आत्मस्वरूप नहीं है, ऐसा समझकर क्षणिक अवस्था की दृष्टि छोड़कर अभेद आत्मस्वभाव को मानना, वह सम्यग्दर्शन है और उस स्वभाव के अनुभव में लीन रहना, वह सम्यक्चारित्र है—यही धर्म है। आचार्य भगवान कहते हैं कि हे भाई! तू बाह्य शरीर को और विकारभावों को अपना मान-मानकर अनन्त काल से संसार में भटकता है और मोह से अनन्त दु:ख भोगता है। यदि तू उस दु:ख से छूटना चाहे तो बहिर्दृष्टि छोड़कर तेरे पवित्र आत्मस्वभाव का ज्ञान कर, उसकी श्रद्धा कर और उसमें लीन हो, यही परमसुख का उपाय है।

श्री कुन्दकुन्द भगवान अध्यात्म की मूर्ति थे, महासमर्थ सन्त मुनि थे, आत्मअनुभव में झूलते थे। उन्होंने इस नियमसार में अध्यात्मरस का समुद्र भर दिया है और पद्मप्रभमलधारिदेव भी महासमर्थ मुनि थे, उन्होंने टीका में बहुत गम्भीर रहस्य खोला है। श्री नियमसार का तीसरा शुद्धभाव अधिकार चलता है। उसमें प्रथम ही आचार्यदेव ने बतलाया कि निकट भव्य जीवों को शुद्धजीवतत्त्व ही उपादेय है, शुद्ध परमपारिणामिक-भावस्वरूप सहज कारणपरमात्मा ऐसा अपना आत्मा ही शुद्धजीवतत्त्व है, वह उपादेय है, इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ उपादेय नहीं है। यह बतलाने के पश्चात् उस उपयोगरूप शुद्धजीवतत्त्व का स्वरूप वर्णन करते हैं।

आत्मा का स्वभाव जड़ पदार्थों से तो सर्वथा भिन्न है और विकार से भी पृथक् है। यह बात तो दूर रहो। औदयिक-औपशमिक-क्षायोपशमिक और क्षायिकभाव हैं, वह भी एक समयमात्र, कर्म की अपेक्षावाले भाव हैं; इसलिए वे कोई भाव भी दृष्टि में उपादेय नहीं हैं अर्थात् उन क्षणिक उत्पन्नध्वंसीभावों को सम्यग्दर्शन स्वीकार नहीं करता। बन्धपर्याय जितना नहीं और मोक्षपर्याय जितना भी नहीं; बन्ध और मोक्ष सर्व पर्यायों के समय एकरूप परिपूर्ण और कर्मों की अपेक्षा से रहित जो पवित्र आत्मस्वभाव है, वही उपादेय है, उसे ही सम्यग्दर्शन स्वीकार करता है। ऐसे स्वभाव को जाने, तब शुद्ध जीवतत्त्व को जाना कहलाता है। हे भव्यजीवो! यदि तुम्हें संसार के दु:ख से थकान लगी हो और तुम मुक्तिसुख को चाहते हो तो तुम्हारे ऐसे परम निरपेक्षस्वभाव को पहिचानो, उसकी रुचि-बहुमान करो, उसका मनन करो और उसका ध्यान करो। जो आत्मस्वरूप के शोधक हैं-आत्मस्वभाव समझने की जिसे झंखना है, उसे ही ऐसा

आत्मा ज्ञानगोचर होता है। जिसे विकार इत्यादि की रुचि है—संसारसुख की रुचि है—उस जीव को शुद्ध आत्मस्वभाव समझ में नहीं आता। बहुत से मूढ़ जीव सत्समागम से यथार्थ ज्ञान करने से पहले ध्यान करने का मिथ्या प्रयास करते हैं, परन्तु अभी आत्मा के सच्चे ज्ञान बिना वह किसका ध्यान करेगा? आँख बन्द करके अन्दर देखेगा तो अन्धेरे के गोले दिखाई देंगे और बाहर देखेगा तो जड़पदार्थ दिखाई देंगे। जिसने सत्समागम से आत्मा की पहिचान की नहीं, उसे ध्यान में आत्मा का अनुभव नहीं होता परन्तु विकार का अनुभव होता है अर्थात् कि उसे अधर्मध्यान होता है। ऐसे विपरीत जीव की आचार्यदेव ने बात नहीं ली है, परन्तु सुलटी ही बात की है कि जो आत्मा को देखने के इच्छुक हैं, उन जीवों को आत्मा अनुभवगोचर होता है। इसलिए हे भव्य जीव! तू तेरी बुद्धि शुद्ध आत्मा में जोड़।

अज्ञानी जीव ने कभी अपना शुद्धस्वरूप का अनुभव नहीं किया, इसलिए पहले तो, जिन्हें शुद्ध आत्मा का अनुभव वर्तता है, ऐसे ज्ञानी के समागम में, पात्र होकर श्रवण करके आत्मस्वरूप को जानना चाहिए। जैसा सर्वज्ञ भगवान ने आत्मा का स्वरूप जाना है और कहा है, वैसा ही ज्ञानी सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा अनुभव करता है और वे ज्ञानी ही उस स्वरूप को यथार्थ कहने में समर्थ है। ज्ञानी को पहिचानकर उनका विनय-बहुमानपूर्वक सत् का श्रवण करके ख्याल में लेकर, फिर अन्तर्मुखदृष्टि करे, तब शुद्धात्मा का अनुभव होता है। जो आत्मा के खोजक नहीं, उन्हें शुद्धात्मा अनुभवगोचर नहीं होता। जो आत्मा के खोजक हैं, उन्हें भी इसके अतिरिक्त दूसरे किसी उपाय से शुद्धात्मा अनुभवगोचर नहीं होता। इसके अतिरिक्त पुण्य इत्यादि को साधन माने या दूसरा कोई उपाय माने तो वह जीव मात्र 'मोह भजन' करता है।

इस जगत में एक ही आत्मा नहीं, परन्तु अनन्त आत्मायें हैं और प्रत्येक भिन्न-भिन्न है। एक-एक आत्मा अनन्त गुणों से परिपूर्ण है; एक-एक आत्मा स्वयं ही परमात्मा हो सकता है। मुक्तदशा में भी अनन्त परमात्मा प्रत्येक भिन्न-भिन्न विराजते हैं, कोई एक-दूसरे में मिल नहीं जाते। जिस क्षेत्र में एक आत्मा है, उसी क्षेत्र में अनन्त आत्मायें हैं परन्तु उसमें प्रत्येक की सत्ता स्वतन्त्र है। तीन काल में एक पदार्थ दूसरे पदार्थ में मिल नहीं जाता; क्षेत्र से इकट्ठे हों, परन्तु सत्ता से भिन्न है। क्षेत्र से तो, इस लोक

में एक जगह में जीव-पुद्गल इत्यादि छहों द्रव्य इकट्ठे हैं। पूरे लोक में ऐसा कोई स्थान नहीं कि जहाँ छहों द्रव्य रहे हुए न हों, परन्तु सदा छहों द्रव्य स्वतन्त्र हैं। जीव कभी पुद्गल में मिल नहीं जाता, पुद्गल जीवरूप हो नहीं जाता तथा सिद्धदशा में भी एक-एक आत्मा की सत्ता न्यारी-न्यारी ही है—ऐसी अपने आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार किये बिना आत्मा की सच्ची पहिचान नहीं होती।

जिसे ताप से अकुलाहट लगी हो, और शान्ति चाहिए हो, वह स्वयं जाकर पानी में पड़ता है; उसी प्रकार जिसे संसार के ताप से अकुलाहट लगी हो और आत्मा की शान्ति की झनखना हो, वह जीव स्वयं सत्पुरुष को शोधकर उसका समागम करता है। जैसे अफीमवाले की दुकान में मिठाई नहीं मिलती, उसी प्रकार आत्मा की समझ अज्ञानी-कुगुरु के निकट नहीं मिलती। आत्मा की समझ करने के लिये जहाँ सत्य समझाया जाता हो, ऐसे ज्ञानी का समागम करे और सत् समझकर अन्तर में उसकी खोज करके अनुभव करे तो अनादि के संसार की अकुलाहट मिटे और आत्मा का सुख प्रगट हो।

जिसने कभी सत् सुना ही नहीं, उसे तो आत्मा का भान होता नहीं और सत् सुनकर भी जो जीव अन्तर मन्थन न करे, उसे भी आत्मभान नहीं होता। आत्मा शरीर इत्यादि जड़ पदार्थों की क्रिया का स्वामी है—ऐसा माने, वह महामिथ्यादृष्टि है और पुण्य-क्रिया से धर्म होता है, ऐसा माने, वह भी मिथ्यादृष्टि है। जड़ से और पुण्य से भिन्न, आत्मस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञानरूप क्रिया से धर्म होता है; इसलिए भव्य जीवों को पात्रता प्राप्त कर आत्मस्वभाव को जानना आवश्यक है। संसार का सुख, वह जहर जैसा है और चैतन्यमूर्ति आत्मा अमृत सुख से भरपूर है। पाँच इन्द्रिय के विषयों में जिसे सुख की मान्यता है, उस जीव को आत्मा के अतीन्द्रिय सुख का अनुभव नहीं होता। मेरा सुख बाहर के किसी विषयों में नहीं; मैं स्वयं सहज सुख से भरपूर हूँ—ऐसे अपने आत्मा की सम्यक्श्रद्धा करना, वह धर्म है और वही संसारदु:ख से छूटकर सुखी होने का उपाय है। इसलिए मोक्षार्थी जीवों को शुद्ध-आत्मा का श्रद्धा-ज्ञान करना चाहिए।

यहाँ ३९ वीं गाथा पूरी हुई।

★★★★★

हे भव्य जीवों! यदि तुम्हें संसार के दुःख से थकान लगी हो और तुम मुक्तिसुख को चाहते हो तो तुम्हारे परम निरपेक्ष आत्मस्वभाव को पहिचानो, उसकी रुचि—बहुमान करो, उसका मनन करो और उसका ध्यान करो। जो आत्मस्वरूप के शोधक हैं—आत्मस्वभाव समझने की जिन्हें झंखना है, उन्हें ही ऐसा आत्मा ज्ञानगोचर होता है, इसलिए हे भव्य जीव! तू तेरी बुद्धि शुद्ध आत्मा में जोड़।

इस शुद्ध आत्मस्वभाव की भावना कर-करके ही भूतकाल के मुमुक्षु जीव मुक्ति प्राप्त हुए हैं, भविष्य में मुक्त होनेवाले जीव इसी प्रकार मुक्त होंगे और भविष्य में भी महाविदेह इत्यादि क्षेत्र में भव्य जीव इसी विधि से मुक्त होते हैं।

— शुद्धभाव अधिकार प्रवचन

व्याख्यान नं. २८, वीर संवत् २४७०, ज्येष्ठ कृष्ण ११, गुरुवार

(गाथा ४०)

उपादेयरूप शुद्ध आत्मतत्त्व का वर्णन चलता है। शुद्ध जीवतत्त्व में कोई विभावस्थान, मान-अपमान स्थान या हर्ष-अहर्ष भाव के स्थान नहीं है—ऐसा ३९वीं गाथा में कहा। अब कहते हैं कि—प्रदेश-प्रकृति-स्थिति और अनुभागरूप कर्मबन्ध के स्थान तथा उदयस्थान भी शुद्ध जीवतत्त्व में नहीं है—

णो ठिदिबंधट्ठाणा पयडिट्ठाणा पदेसठाणा वा।
णो अणुभागट्ठाणा जीवस्स ण उदयठाणा वा।।४०।।

न स्थितिबन्धस्थानानि प्रकृतिस्थानानि प्रदेशस्थानानि वा।
नानुभाग-स्थानानि जीवस्य नोदय-स्थानानि वा।।४०।।

नहिं प्रकृति स्थान-प्रदेश स्थान न और स्थिति-बन्धस्थाननहिं।
नहिं जीव के अनुभागस्थान तथा उदय के स्थान नहिं ॥४०॥

अर्थः—शुद्ध जीवास्तिकाय को प्रकृतिबन्ध, प्रदेशबन्ध, स्थितिबन्ध और अनुभागबन्ध के स्थान नहीं है तथा उसके उदयस्थान भी नहीं है।

कर्मबन्धन में चार प्रकार हैं—प्रदेश, प्रकृति, स्थिति और अनुभाग; वे जड़ हैं, वह आत्मा का स्वरूप नहीं। आत्मा के चैतन्यस्वरूप में जड़कर्म है ही नहीं। अरूपी आत्मा में रूपी कर्मों का अभाव है। कर्म के सम्बन्ध से जीव को पहिचाने तो जीव का सच्चा स्वरूप नहीं ज्ञात होता।

जीव जब विकारभाव से परिणमे, तब निमित्तरूप जड़कर्म होते हैं, क्योंकि विकार जीव का स्वभाव नहीं परन्तु विभाव है; इसलिए वह पर निमित्त के लक्ष्य से होता है। उसका ज्ञान कराने के लिये शास्त्रों में कर्मों का वर्णन किया है। परन्तु शास्त्र कहीं कर्म और आत्मा की एकता नहीं बतलाते। अथवा कर्म आत्मा को विकार कराते हैं—ऐसा नहीं बतलाते। अज्ञानी जीव तो आत्मा को भूलकर कर्म को जानने में ही अटक पड़ता है। 'इतनी प्रकृति का अपकर्षण होता है और इतनी प्रकृति उत्कर्षण होता है'—ऐसे

कर्म की बात को रटा करता है। परन्तु आत्मा में कर्म है ही नहीं—इस मूलभूत बात को नहीं समझता। 'पहले कर्म का ज्ञान करना चाहिए—आत्मा का नहीं'—ऐसा अज्ञानी कहते हैं, परन्तु कुन्दकुन्द भगवान कहते हैं कि कर्मबन्धन की प्रकृति, स्थिति इत्यादि को जानने से कहीं कर्मबन्धन टलता नहीं है; यदि कर्मबन्धरहित शुद्धात्मा को जानकर भेदज्ञान प्रगट करे तो ही कर्मबन्धन टलता है।

जो आत्मा को तो जाने नहीं और कर्म को ही जानने में रुकता है, वह अज्ञानी है। जैसे कोई मूर्ख किसान एक गाँव से दूसरे गाँव जाते हुए रास्ते में खाली जमीन का माप कर आया और दूसरे से बात की। तब दूसरे ने उससे पूछा कि तुझे वह जमीन लेना है? किसान ने कहा—मुझे लेना नहीं परन्तु यूँ ही माप कर आया। अपने को कुछ लेना-देना नहीं, तथापि व्यर्थ में ऊजड़ जमीन का माप कर आया। यह दृष्टान्त है। उसी प्रकार जड़कर्म को ऊजड़ हैं। उनमें आत्मा के कोई गुण या धर्म नहीं है, उन कर्मों के साथ आत्मा को लेना-देना नहीं है। जो जीव, आत्मा का स्वरूप क्या है, उसे समझता नहीं और मात्र कर्मों के भंगभेद ही रटा करता है, वह जीव अज्ञानी है।

कर्म जड़ वस्तु है, वह भी सत्पदार्थ है, वह आत्मा के ज्ञान का ज्ञेय है। आत्मा के ज्ञानपूर्वक कर्मों को भी जाने, उसमें कोई दोष नहीं है। परन्तु जड़कर्मों को वास्तव में आत्मा करता है और आत्मा उसे टालता है, तथा कर्म आत्मा को हैरान करते हैं—ऐसा जो मानता है, वह जीव मिथ्यादृष्टि है। कर्म आवे और टले, वह उसके ही कारण से होता है, आत्मा उसका कर्ता नहीं है। कर्म के अनन्त गुण कर्म में हैं और आत्मा के अनन्त गुण आत्मा में हैं। जाननेवाला स्वयं कौन है, यह निर्णय किये बिना कर्म का ज्ञान कौन करेगा? आत्मा के ज्ञानस्वभाव को पहिचाने बिना कर्म का भी यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता।

जीव तथा अजीव प्रत्येक द्रव्य अनन्त गुण के पिण्ड हैं; प्रत्येक द्रव्य में अपनी-अपनी अनन्त शक्तियाँ स्वतन्त्र है। आत्मा की शक्ति आत्मा में है और जड़कर्म की शक्ति जड़ में है। कर्म, वे कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं परन्तु अनन्त अजीव—रजकणों का स्कन्ध है; उसमें प्रत्येक-प्रत्येक रजकण स्वतन्त्र है। कोई एक रजकण दूसरे रजकणरूप नहीं होता। जगत में कोई एक पदार्थ दूसरे पदार्थरूप नहीं होता अर्थात् एक पदार्थ की शक्ति

दूसरे पर नहीं चलती। ऐसा है तो आत्मा कर्मों का क्या करे? और कर्म आत्मा का क्या करे?—कुछ नहीं कर सकते। ऐसा वस्तुस्वरूप होने पर भी अज्ञानी जीव परपदार्थ का स्वामित्व मान रहा है; मैं जड़कर्मों का कर्ता हूँ और मुझमें कर्म है, कर्म मुझमें विकार कराते हैं—ऐसी अज्ञानी की मिथ्या मान्यता है। जैसे अन्यमतों में ईश्वर को पर का कर्ता मानते हैं, वह अज्ञान है; उसी प्रकार जैनमत में रहे हुए बहुत-से अज्ञानी जीव भी आत्मा को जड़कर्म का कर्ता मानते हैं और जड़कर्मों को आत्मा का कर्ता मानते हैं, वे भी अज्ञानी ही हैं।

इस गाथा में आचार्य भगवान शुद्ध जीव का वर्णन करते हुए कहते हैं कि आत्मा में किसी प्रकार का कर्मबन्ध है ही नहीं। 'कर्म का उदय जीव को विकार कराता है' ऐसा अज्ञानी लोग मानते हैं, परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि आत्मा में कर्म का उदय होता ही नहीं, कर्मों का उदय जड़ में है, और कर्मों की अपेक्षा से होते भाव भी वास्तव में जीव का स्वरूप नहीं। कर्मवाला जीव या विकारवाला जीव—ऐसे स्वरूप से जीव की श्रद्धा करना, वह अधर्म है और शुद्ध जीवस्वरूप की श्रद्धा करना, वह धर्म है।

टीका

शुद्ध आत्मा में प्रकृति, स्थिति, अनुभाग या प्रदेशबन्ध के स्थान नहीं है तथा उनके उदय के स्थान भी नहीं हैं। ज्ञानावरणादि आठ कर्मोंरूप होनेयोग्य पुद्‌गलद्रव्यों का स्वभाव, वह प्रकृतिबन्ध है, उसके स्थान जीव में नहीं है। कर्मों को रहने की मर्यादारूप स्थितिबन्ध है, उसके स्थान भी जीव में नहीं है। अशुद्ध आत्मतत्त्व और कर्मपुद्‌गलों का परस्पर एकक्षेत्रावगाही होना, वह प्रदेशबन्ध है, उस बन्ध के स्थान भी जीव में नहीं है। शुभ-अशुभकर्मों की निर्जरा के समय कर्म में सुख-दुःख फल देने की शक्ति, वह अनुभागबन्ध है, उसके स्थानों का भी अवकाश शुद्ध जीवतत्त्व में नहीं है तथा द्रव्यरूप और भावरूप कर्मोदय के स्थानों का भी शुद्ध जीव में अवकाश नहीं है।

अपने शुद्ध आत्मा का स्वरूप क्या है, यह समझे और इससे विरुद्ध विकारी भावों को पहिचाने तो अपने स्वरूप में रहकर विकार को टाले और जीव को धर्म हो। जड़कर्म तो आत्मा से भिन्न ही हैं और उसके कारणरूप विकारी भाव भी आत्मा का स्वरूप नहीं है।

संसारी जीव की पर्याय में अशुद्धभाव होते अवश्य हैं और उसके निमित्त से कर्मों का सम्बन्ध भी अवश्य होता है, परन्तु उस अशुद्धता को और कर्म के सम्बन्ध को ही जीव मानने से धर्म नहीं होता। जीव का त्रिकाल टिकनेवाला शुद्धस्वरूप विकार से और कर्म के सम्बन्ध से रहित है, उसकी पहिचान और श्रद्धा से धर्म होता है। जड़कर्मों में चार प्रकार होते हैं—प्रदेश, प्रकृति, स्थिति और अनुभाग। उसमें स्थिति और अणुभाग बन्ध का कारण तो जीव के कषायभाव हैं और प्रदेश तथा प्रकृतिबन्ध का कारण योग का विकार है। उन कर्म और उनके कारणरूप विकारभावों से भिन्न शुद्ध जीवतत्त्व है।

यहाँ वस्तुदृष्टि से आत्मा का स्वरूप बताया है। आत्मा त्रिकाली वस्तु है और क्षण-क्षण में उसकी अवस्था बदलती है। उसकी प्रवर्तित हालत में जो राग-द्वेषादि भाव हैं, वे क्षणिक हैं, आत्मा के त्रिकाली स्वरूप में वे रागादि नहीं हैं। इसलिए उनके निमित्त से जो कर्म बँधते हैं, वे भी आत्मा में नहीं हैं। आत्मा की अनित्य पर्याय में होनेवाले पुण्य-पापरूप भाव भी आत्मा का स्वरूप नहीं तो फिर जड़ कर्मों का बन्धन तो आत्मा में कहाँ से होगा?

वस्तु द्रव्य-पर्यायस्वरूप है; द्रव्य और पर्याय दोनों की अपेक्षा समझना चाहिए। पर्याय में विकार होता है, उस पर्याय को गौण करके त्रिकाली द्रव्य की अपेक्षा से अभी वस्तु का स्वरूप वर्णन किया जाता है, क्योंकि अभी सम्यग्दर्शन के विषयवस्तु जीव का स्वरूप बतलाना है। जब पर्याय की अपेक्षा से वस्तु का वर्णन चलता हो, तब ऐसा कहा जाता है कि रागादिभाव आत्मा में ही होते हैं, कहीं जड़ में रागादि नहीं होते; आत्मा ही रागादिभाव करता है।—यह दोनों बातें तो सत्य ही है, परन्तु उसमें अपेक्षा भेद है। रागादि की बात की, वह व्यवहारनय का विषय है। दोनों अपेक्षाओं से वस्तुस्वरूप जैसा है, वैसा समझना चाहिए।

संसार में पहले किसी के साथ अपनी बहिन का विवाह किया हो, तब सामने व्यक्ति को अपने बहनोईरूप से पहिचानते हैं और बाद में उसकी बहिन के साथ स्वयं ने विवाह किया हो तो उसी व्यक्ति को अपने साले के रूप में भी पहिचानते हैं—ऐसी भिन्न-भिन्न अपेक्षा से एक ही व्यक्ति को दो प्रकार से पहिचानते हैं। जब उस व्यक्ति को बहनोईरूप से कहे, तब साला के रूप का सम्बन्ध गौण करता है। उसी प्रकार आत्मा

को भी दो अपेक्षाओं से पहिचाना जाता है। यदि त्रिकाली द्रव्य की अपेक्षा से आत्मा को देखें तो वह शुद्ध निर्विकारी परिपूर्ण है और यदि पर्याय की अपेक्षा से देखें तो उसमें राग-द्वेष भी होते हैं। त्रिकाली स्वभाव को पहिचानने के लिये क्षणिकपर्याय को गौण करके ऐसा कहा जाता है कि आत्मा में विकार है ही नहीं। परन्तु पर्याय अपेक्षा से भी आत्मा में विकार नहीं होता—ऐसा कोई माने तो वह अज्ञानी है। रागादि विकारभाव जड़ में नहीं होते परन्तु आत्मा की पर्याय में होते हैं; और वे विकारभाव कर्म नहीं कराता परन्तु जीव स्वयं ही करता है। विकार करने का आत्मा का त्रिकाली स्वभाव नहीं, इसलिए त्रिकाली स्वभाव की दृष्टि से ऐसा कहा जाता है कि आत्मा विकार का कर्ता है ही नहीं।

विकार, वह जड़ का कार्य है। यह कथन तो स्वभाव और विकार का भेदज्ञान कराने के लिये है। जिसे ऐसा भेदज्ञान हो, उसे बहुत विकार तो टल जाता है और विकार में एकत्वबुद्धि नहीं होती। परन्तु कोई जीव स्वभावदृष्टि करे नहीं, विकार से जरा भी पृथक् पड़े नहीं, अज्ञानभाव से ऐसे के ऐस तीव्र विकारभाव किये करे और कहे कि 'विकार तो जड़कर्म कराते हैं, आत्मा उसका कर्ता नहीं है'—तो वह महा अज्ञानी है। आचार्यदेव उसे कहते हैं कि भाई! तू ही अज्ञानभाव से विकार का कर्ता है, आत्मा में ही विकार होता है। आत्मा का त्रिकाली स्वभाव और वर्तमान अवस्था, इन दोनों को यथार्थरूप से समझकर प्रौढ़ विवेक द्वारा स्वभाव की ओर ढलना, वह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है; निश्चय का आश्रय, वही प्रौढ़ विवेक है। द्रव्य और पर्याय को जानकर भी यदि त्रिकाली स्वभाव का आश्रय न करे तो जीव को सम्यग्दर्शन या सम्यग्ज्ञान नहीं होता।

आत्मा टंकोत्कीर्ण चैतन्यमूर्ति है और कर्म जड़ हैं; ये दोनों तो त्रिकाल भिन्न ही हैं। आत्मा की पर्याय में जो कषायादि भाव होते हैं, वे भी आत्मा के साथ एकमेक नहीं हैं; यदि वे आत्मा के साथ एकमेक हों तो कभी आत्मा से भिन्न नहीं पड़े और मोक्ष नहीं हो। जैसे समुद्र में निर्मल और मलिन लहरें उठें, उसमें जो मलिन भाग है, वह तो बाहर से आया हुआ है, पानी का मूलस्वरूप मैला नहीं है; पानी समुद्र में रहता है और मैल बाहर निकल जाता है और उन मलिन और निर्मल लहरों जितना ही पूरा समुद्र नहीं है;

सदा रहनेवाला पानी का दल, वह समुद्र है। उसी प्रकार आत्मा चैतन्य समुद्र है; उसमें निर्मल और मलिन ऐसी दो प्रकार की अवस्थायें होती हैं। निर्मल दशा तो आत्मा के साथ अभेद होती है और विकारी भाव टल जाते हैं। विकार की उत्पत्ति आत्मा के स्वभाव में से नहीं होती परन्तु बाहर के लक्ष्य से होती है। वे विकारी भाव तो आत्मा का स्वरूप नहीं, और जो निर्मलभाव प्रगट होते हैं, उन जितना भी आत्मा नहीं है। त्रिकाल ध्रुव चैतन्यस्वभाव है, वह शुद्ध आत्मा है।

कोई कहता है, 'यह तो एकान्त निश्चय हो जाता है, प्रमाण नहीं रहता?' उसका समाधान:—इसमें ही एकान्त टलकर प्रमाण होता है; क्योंकि 'त्रिकाल ध्रुव चैतन्यस्वभाव है'—उसे समझनेवाला कौन है? यह समझनेवाली तो पर्याय ही है। समझरूपी कार्य द्रव्य-गुण में नहीं होता, परन्तु पर्याय में ही होता है। वर्तमान पर्याय जब द्रव्यस्वभाव की ओर ढलकर अभेद हुई, तब ही त्रिकाली स्वभाव की श्रद्धा और ज्ञान हुआ है। इसमें द्रव्य और पर्याय अभेद हुए, यही प्रमाण है। त्रिकाली ध्रुव चैतन्यस्वभाव को 'शुद्धभाव' कहा जाता है, वही धर्मात्माओं को उपादेय है। उसकी श्रद्धा, उसका ज्ञान और उसमें ही लीनता, यह मोक्षमार्ग है, वह पर्याय है। त्रिकाली द्रव्य, वह निश्चय है और उस द्रव्य की ओर ढलती पर्याय, वह यथार्थ व्यवहार है।

यहाँ तत्त्वदृष्टि से जीव का वर्णन है, इसलिए कहते हैं कि आत्मस्वभाव में विकार या कर्म का सम्बन्ध नहीं है परन्तु पर्याय में मलिनता और कर्म का सम्बन्ध है। यदि मलिन अवस्था न हो तो अभी मोक्षदशा प्रगट होनी चाहिए और यदि वह मलिन अवस्था आत्मस्वभाव में ही हो तो कभी वह मलिनता टलकर मोक्ष नहीं हो सकेगा। इसलिए अवस्था में विकार है और उसके निमित्तरूप जड़कर्म भी हैं—ऐसा जानना चाहिए; और शुद्ध जीवतत्त्व में वह कुछ नहीं है, ऐसा जानकर शुद्ध जीवतत्त्व की श्रद्धा करना चाहिए।

शुद्ध आत्मा में स्थितिबन्ध नहीं है—ऐसा अब कहते हैं। इस शुद्ध जीवतत्त्व को स्थितिबन्ध के स्थान नहीं हैं और उनके कारणरूप कषायभाव भी नहीं हैं। जब कर्मों का बन्धन होता है, तब उसमें आत्मा के साथ सम्बन्ध रहने की अवधि होती है, उसका नाम स्थितिबन्ध है, उसका कारण कषायभाव है, परन्तु स्थितिबन्धरूप कर्म या कषायभाव

आत्मा के स्वभाव में नहीं है। विकार का उत्पन्नध्वंसी स्वभाव है, पुण्य-पापभाव नये उत्पन्न होते हैं और वापस नाश पा जाते हैं। आत्मा का चैतन्यमय वीतरागी स्वभाव अविनाशी है। वह अनादि-अनन्त एकरूप है। मोहनीयकर्म की उत्कृष्ट स्थिति सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर की है—ऐसी बात शास्त्र में आती है, वह सुनकर अज्ञानी को ऐसा लगता है कि अरर! इतनी अधिक लम्बी स्थिति का कर्म! परन्तु भाई! चैतन्यस्वभाव को चूककर तेरा लक्ष्य कर्म के ऊपर गया है, इसलिए तुझे कर्म का जोर भासित होता है। परन्तु तू आत्मा की स्थिति तो देख! आत्मा की स्थिति अनादि-अनन्त है, उसके समक्ष सत्तर कोड़ाकोड़ी सागर का काल तो कुछ गिनती में नहीं है। आत्मा में तो कर्म का अभाव ही है। अनादि-अनन्त एकरूप आत्मा की पहिचान—श्रद्धा करे, उसे लम्बी स्थितिवाले कर्म का सम्बन्ध होता ही नहीं।

आत्मा के अनादि-अनन्त ज्ञानस्वभाव को जो नहीं जानता, उसे कर्म की स्थिति लम्बी भासित होती है, परन्तु आत्मा में तो कर्म का अभाव ही है—यह उसे भासित नहीं होता। कितने ही लोग कहते हैं कि पूर्व में बहुत काल से लम्बी स्थिति के कर्म बँधे हों, वे छूटें तब धर्म होगा! उन्हें यहाँ कहते हैं कि हे भाई! आत्मा में कर्मों की स्थिति ही नहीं है; तेरा शुद्ध आत्मस्वभाव अभी ही विकार और कर्मों से रहित है, उसकी श्रद्धा कर तो अभी ही धर्म होगा। मेरे आत्मा में भव है ही नहीं, भव का कारण विकार या कर्म मुझमें नहीं है, मैं अनादि-अनन्त एकरूप ज्ञानस्वभाव हूँ, वह कभी विकाररूप हुआ ही नहीं—ऐसी श्रद्धा, वह सम्यग्दर्शन है। आत्मा में संसार ही नहीं, भव ही नहीं और विकार भी नहीं, तो फिर कर्म आत्मा को भटकाते हैं, यह बात तो कहाँ से होगी? मैं तो सिद्धभगवान जैसा ही त्रिकाल हूँ; सिद्ध की भाँति मुझमें भी कर्मों की स्थिति नहीं है। यदि आत्मस्वभाव में कर्म की स्थिति हो तो कभी उसे टालकर सिद्धदशा ही नहीं हो सकती। कर्म टलकर सिद्धदशा होती है, इसलिए निश्चित हुआ कि पहले से ही वे कर्म आत्मस्वभाव से पृथक् थे।

शुद्ध आत्मा में प्रकृतिबन्ध नहीं—ऐसा अब कहते हैं। ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मरूप होनेयोग्य पुद्गल परमाणु आत्मा के साथ एक क्षेत्र में बँधे, वह प्रकृतिबन्ध है। शुद्ध आत्मा में आठ प्रकार के प्रकृतिबन्ध नहीं तथा उसके कारणरूप योगस्थान भी

नहीं है।

जीव ज्ञानगुण की अवस्था हीन करता है, तब ज्ञानावरणीयकर्म निमित्तरूप होता है। दर्शनगुण की हीन अवस्था करता है, तब दर्शनावरणीयकर्म निमित्तरूप होता है, इस प्रकार आठ प्रकार के कर्म हैं, वे जीव का स्वरूप नहीं और ज्ञान इत्यादि की अपूर्ण अवस्था भी जीव का स्वरूप नहीं। कर्मबन्ध में प्रकृति का कारण योग है। त्रिकाल असंख्य अवयवी आत्मा ध्रुव है, उसके असंख्य चैतन्यप्रदेश सदा एकरूप है। वर्तमान दशा में योगगुण के विकार के कारण आत्मा के प्रदेशों में कम्पन होता है, उसके निमित्त से कर्म की प्रकृति बँधती है, परन्तु शुद्धात्मा में उन किसी का स्वीकार नहीं है।

अज्ञानी जीव कर्म के स्वभाव को देखता है परन्तु आत्मा के स्वभाव को नहीं देखता। वह ऐसा मानता है कि ज्ञानावरणीयकर्म का स्वभाव ज्ञान को रोकने का है और दर्शनावरणीयकर्म का स्वभाव दर्शन को रोकने का है। आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! तेरा स्वभाव शुद्ध ही है, उसमें जड़कर्म का प्रवेश ही नहीं है, तो कर्म तुझमें क्या करे? भव्य या अभव्य कोई भी जीव के स्वभाव में कर्मप्रकृति का स्वभाव प्रवेश नहीं कर जाता। आत्मा का स्वभाव और कर्म का स्वभाव तीनों काल भिन्न ही है। जीव की पर्याय में जो विकार होता है, वह विकार जड़कर्म नहीं कराते, परन्तु जीव जब स्वयं प्रकृति के लक्ष्य से विकाररूप परिणमता है, तब आरोप से कर्मप्रकृति को विकार का कारण कहा जाता है, वास्तव में कर्म विकार कराता नहीं है।

अब शुद्धात्मा में प्रदेशबन्ध नहीं है—यह बात करते हैं। अशुद्ध आत्मा के साथ कर्मवर्गणारूप पुद्गल एकक्षेत्र में बँधते हैं, शुद्धात्मा में वह कर्मबन्धन तथा योग नहीं है; आत्मा में 'योग' नाम का गुण त्रिकाल है, त्रिकाली स्वभाव कभी अशुद्ध नहीं होता। आत्मा में विभाव होने की योग्यता एक समयमात्र की है। योगगुण की अवस्था विकारी हो, तब आत्मप्रदेशों में कम्पन होता है। तेरहवें गुणस्थान में विराजमान अरिहन्त भगवान को भी योग का कम्पन होता है और इस कारण से सातावेदनीय के परमाणु आते हैं, इसलिए उन्हें भी प्रदेशबन्ध और प्रकृतिबन्ध है, परन्तु उन्हें कषाय का सम्पूर्ण अभाव होने से कर्म में जरा भी स्थिति या अनुभाग नहीं होता, इसलिए सातावेदनीयकर्म के परमाणु जिस समय में आते हैं, उसी समय में खिर जाते हैं—इसे 'ईरियावहीक्रिया'

(-ईरियापथ आस्रव) कहा जाता है। सामान्य संसारी जीवों की अपेक्षा अरिहन्त भगवान को तेरहवें गुणस्थान में योग का कम्पन बहुत होता है। यह सब एक समय की पर्याय की बात है, एक समय की पर्याय जितना आत्मा नहीं है। त्रिकाली आत्मद्रव्य को देखने से उसमें कम्पन या प्रदेशबन्ध नहीं है। ऐसा ही सभी आत्माओं का परमार्थस्वरूप है।

शुद्धात्मा में अनुभागबन्ध नहीं है—यह बात अब करते हैं। शुभ या अशुभकर्मों में, निर्जरते समय फल देने की शक्ति को अनुभागबन्ध कहा जाता है। जब कर्म की स्थिति पूरी होती है, तब वह उदय में आकर खिर जाती है, उस समय जीव जितने अंश में उसमें जुड़ता है, उतने अंश में विकाररूप फल आता है। परन्तु कर्म के उदय के समय जीव को विकार करना ही पड़े—ऐसा नहीं है। जैसे चावल का स्वाद चावल में है, उसी प्रकार कर्म का विपाक कर्म में है; कर्म का तीव्र या मन्द अनुभाग एक ही समयमात्र का है और उसके निमित्त से होती सुख-दुःखरूप वृत्ति भी एक ही समय की है। वह जीव का स्वरूप नहीं है।

आत्मा में जड़कर्म का पाक नहीं होता तथा क्रोध-मान-माया-लोभरूपी भाव भी वास्तव में आत्मा में से नहीं पकते, आत्मा में से तो ज्ञान और वीतरागता ही पकती है। यदि विकार का पाक वास्तव में आत्मा में से पकता हो तो सिद्ध के आत्मा को भी विकार होगा। शुद्ध आत्मा में से विकार का पाक होता ही नहीं। अज्ञानभाव में से विकार का पाक होता है और चैतन्यस्वभाव में से तो मोक्षदशारूपी पाक पकता है।

जैसे आत्मा के खेत में से आम के वृक्ष निकालकर कोई मूर्ख मनुष्य नीम के वृक्ष बोवे, उसी प्रकार आत्मा के चैतन्यक्षेत्र में अज्ञानी जीव पुण्य-पाप को अपना स्वरूप मानकर विकार की उत्पत्ति करता है। विकार की उत्पत्ति का स्थान त्रिकाली आत्मद्रव्य नहीं परन्तु एक समय की अवस्था है। कर्मों का अनुभव तो कर्म के रजकणों में आता है, वह एक समय का विकार और कर्मों का अनुभाग, इन दोनों से पार त्रिकाल आनन्दमय आत्मस्वरूप की पहिचान करके उसमें रमणता करना, वह धर्म है।

आत्मस्वभाव में प्रदेश-प्रकृति-स्थिति और अनुभाग यह किसी प्रकार का बन्ध नहीं है। जैसे लड्डू में उसके परमाणुओं का जत्था, वह उसका प्रदेशबन्ध है, उसी प्रकार कर्म के परमाणुओं का जत्था आत्मा के साथ एकक्षेत्र में रहता है, वह प्रदेशबन्ध

है; चूरमे का लड्डू या मगज का लड्डू इत्यादि लड्डू की प्रकृति है, उसी प्रकार कर्म में ज्ञानावरण इत्यादि आठ जातियाँ हैं, वह उसकी प्रकृति है; लड्डू में चार-छह दिन रहने की मर्यादा है, वह उसकी स्थिति है; उसी प्रकार कर्मों की आत्मा के साथ रहने की अवधि, वह उनकी स्थिति है और लड्डू में कम-अधिक मीठापन, वह उसका अनुभाग है, उसी प्रकार तीव्र या मन्द फल देनेरूप कर्म की शक्ति, वह उसका अनुभाग है। कर्म में प्रदेश और प्रकृति होने का कारण योग है और स्थिति तथा अनुभाग का कारण कषाय है। मिथ्यादृष्टि को अनन्तानुबन्धी क्रोध-मान-माया-लोभकषाय होती है।

आत्मा के पवित्र स्वरूप की अरुचि और विकार की रुचि, वह अनन्तानुबन्धी क्रोध कषाय है। पुण्य द्वारा और परवस्तु द्वारा आत्मा की महिमा मानना—ऐसी जो पर में अहंबुद्धि, वह अनन्तानुबन्धी मानकषाय है। आत्मा के सहज स्वभाव का सरल मार्ग है, उसे न मानकर आडा / वक्रता करके 'पुण्य या शरीर की क्रिया करते-करते धर्म होगा', ऐसा मानना, वह अनन्तानुबन्धी माया कषाय है; अथवा स्वभाव समझा जा सके, ऐसा सरल होने पर भी 'स्वभाव समझना कठिन है' ऐसा मानकर स्वभाव समझने में आड़ मारना, वह अनन्तानुबन्धी मायाकषाय है और पुण्यभाव को तथा परवस्तु को अपने मानकर उन्हें ग्रहण करने की बुद्धि, वह अनन्तानुबन्धी लोभकषाय है। मिथ्यात्वपूर्वक के ऐसे कषायभाव, वह बन्धन का मुख्य कारण है। पर से और विकार से पृथक् शुद्धात्मा की सच्ची पहिचान होने पर ऐसे अनन्तानुबन्धी क्रोधादि कषाय टल जाते हैं, और पश्चात् भी जो अल्प कषायभाव होता है, वह बन्ध का ही कारण है, परन्तु आत्मा को बन्धन है—ऐसा कहना, वह व्यवहार से है; निश्चय से तो चार प्रकार के कर्मबन्धन और उसके कारणरूप कषाय तथा योग, वह आत्मस्वरूप में नहीं है; आत्मा कभी कर्मों को स्पर्शा भी नहीं है।

निर्मल आत्मस्वरूप में उदयस्थान नहीं है—ऐसा अब कहते हैं। आकाश जैसे निर्मल आत्मा में द्रव्यकर्म या भावकर्म के उदय को रहने की जगह ही नहीं है। ऊपर जो आकाश दिखता है, वह तो पुद्गल परमाणुओं का जत्था है, उसकी बात नहीं है, परन्तु आकाश नाम का एक अरूपी द्रव्य है, उसमें कोई चित्राम नहीं हो सकता, वह सदा ही शुद्ध है, उसमें कभी विकार नहीं होता; उस आकाश जैसा शुद्ध आत्मस्वभाव है, उस

स्वभाव में विकार का प्रवेश नहीं होता और जड़कर्मों का उदय भी उसमें नहीं है। जड़कर्मों का उदय जड़ में आता है और कर्म के लक्ष्य से जो विकारीभाव होते हैं, वह भावकर्म है, उसके उदय का स्थान भी आत्मस्वभाव में नहीं है। अपने घर में रही हुई पूँजी की जब तक खबर न हो, तब तक पर की पूँजी लेकर कर्ज करता है परन्तु अपने घर में रही हुई पूँजी की खबर पड़ते ही पर का कर्ज चुकाकर कर्ज से मुक्त हो जाता है; उसी प्रकार इस आत्मा को जब तक अपने परिपूर्ण स्वभाव की पहिचान न हो, तब तक वह विकारभाव को और कर्मों को अपना मान-मानकर अंगीकार करता है और संसार में भटकता है। परन्तु जब सत्समागम से अपने मूलस्वभाव की पहिचान हुई, तब विकार को और कर्मों को अपना नहीं मानता और उसे छोड़कर मुक्त हो जाता है। जब तक स्वभावदृष्टि से जीव अपना स्वरूप देखता है, तब उसे ऐसा स्वरूप समझ में आता है कि अहो! मेरा आत्मा शुद्ध परिपूर्ण है, वह कभी विकाररूप हुआ ही नहीं और उसे कर्म स्पर्शे ही नहीं। मैंने अभी तक अज्ञानभाव से विकार को ही आत्मा माना था, परन्तु मेरा आत्मस्वभाव तो विकार से भिन्न, सदा ऐसा का ऐसा एकरूप शुद्ध है। ऐसा शुद्ध आत्मा ही प्रत्येक जीव को उपादेय है।

अब टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारिदेव इस गाथा पर तीन कलश रखते हैं; उसमें प्रथम भगवान श्री अमृतचन्द्रसूरी ने समयसार में कहा हुआ एक कलश कहकर शुद्धात्मा का अनुभव करने की प्रेरणा करते हैं।

(मालिनी)

''न हि विदधति बद्धस्पृष्टभावदयोऽमी
स्फुटमुपरि तरन्तोऽप्येत्य यत्र प्रतिष्ठाम्।
अनुभवतु तमेव द्योतमानं समन्तात्
जगदपगतमोहीभूय सम्यक्स्वभावम्॥''

बद्ध-स्पृष्ट आदि विकारभाव प्रगटरूप से आत्मस्वभाव के ऊपर ही ऊपर तैरते हैं, परन्तु अन्दर प्रतिष्ठा नहीं पाते—प्रवेश नहीं करते; आत्मस्वभाव सर्व ओर से प्रकाशमान है। सर्व अवस्थाओं में शुद्धस्वभाव प्रकाशमान है। श्री आचार्य भगवान कहते हैं कि हे भव्य जीवो! जगत के मोह को छोड़कर तुम सम्यक् स्वभावरूप इस शुद्धात्मा का

अनुभव करो।

जिस प्रकार कमल पानी से अलिप्त रहता है, उसी प्रकार चैतन्यस्वभाव विकार से और कर्मों से अलिप्त है, विकार या कर्मों के साथ वह एकमेक नहीं हो गया। और जैसे तेल पानी में ऊपर ही ऊपर तैरता है, परन्तु अन्दर प्रवेश नहीं करता; उसी प्रकार विकारी भाव और कर्म चैतन्यस्वभाव के बाहर ऊपर के ऊपर तैरते हैं, परन्तु वे स्वभाव में प्रवेश नहीं कर जाते। विकार तो दूसरे ही क्षण नष्ट हो जाता है और स्वभाव तो ऐसा का ऐसा रहता है। 'विकारभाव ऊपर तैरते हैं' ऐसा कहा अर्थात् कि पर्याय में विकारभाव होते अवश्य हैं, एकान्तरूप से पर्याय में भी विकारभाव होते ही नहीं, ऐसा नहीं है; पर्याय में तो होते हैं परन्तु द्रव्यस्वभाव में वे नहीं हैं। द्रव्यस्वभाव विकारमय नहीं हो जाता; इसलिए कहा कि विकारीभाव ऊपर तैरते हैं परन्तु स्वभाव में प्रवेश नहीं पाते।

पर्याय में विकार होता है, उसी समय त्रिकाली शुद्धस्वभाव की दृष्टि से आत्मा विकाररहित है, इसलिए स्वभाव ही सर्व अवस्थाओं में प्रकाशमान है। अज्ञानी जीव विकार को ही प्रगटरूप से देखता है परन्तु स्वभाव को नहीं देखता; ज्ञानी विकाररहित स्वभाव को ही सदा प्रकाशमान देखते हैं, स्वभाव में कभी विकार को देखते ही नहीं। चैतन्य भगवान आत्मा अस्पर्शी अरूपी है और जड़कर्म तो स्पर्शवाले—रूपी हैं, आत्मा कभी कर्मों को स्पर्शा ही नहीं और कर्म कभी आत्मा को छुए ही नहीं। राग-द्वेषादि भाव आत्मा में प्रतिष्ठा नहीं पाते, अर्थात् कि वे रागादिभाव आत्मस्वभाव के आधार से नहीं होते, उन विकारीभावों को ध्रुव अविनाशी आत्मस्वभाव का आधार नहीं मिलता। आत्मस्वभाव के आधार से तो सम्यग्दर्शन और केवलज्ञान की उत्पत्ति होती है।

जिसने त्रिकाली आत्मस्वभाव की श्रद्धा की, उसे स्वभाव के आश्रय से निर्मलता की ही उत्पत्ति होती है, स्वभाव के आधार से विकार की उत्पत्ति नहीं होती। जिसने वर्तमान पर्याय जितना ही आत्मा को माना, वह जीव मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है, उसके अज्ञानभाव के आधार से ही राग-द्वेषादि विकार की उत्पत्ति होती है। राग-द्वेषादि का आधार वास्तव में अज्ञानभाव ही है। त्रिकाली स्वभाव की श्रद्धा होने पर अज्ञान टल गया, इसलिए अब ज्ञानी-धर्मात्मा को वास्तव में रागादि की उत्पत्ति नहीं होती परन्तु त्रिकाली स्वभाव के आधार से शुद्धभाव की ही उत्पत्ति होती है। 'मैं राग-द्वेषवाला हूँ

और मैं कर्म के आधीन हूँ' ऐसी उल्टी दृष्टि के आधार से ही राग-द्वेष और कर्म की उत्पत्ति है और राग-द्वेष तथा कर्म के संयोगरहित मैं त्रिकाल मेरे स्वभाव से पूर्ण हूँ—ऐसी सम्यक्‌दृष्टि के आधार से केवलज्ञान और मोक्षदशा की उत्पत्ति होती है। इसलिए श्री आचार्य भगवान प्रेरणा करते हैं कि हे जगत के जीवो! तुम सम्पूर्ण मोहरहित होकर शुद्धात्मस्वभाव का अनुभव करो।

सर्वज्ञ भगवान की दिव्यध्वनि का यह निचोड़ है। यह समझे बिना जगत के जीव अनादि काल से संसार में भटकते हैं और अनन्त दु:ख भोगते हैं। एक भी शब्द व्यर्थ—भाव समझे बिना का—जाना नहीं चाहिए, एक-एक शब्द के पीछे महान वाच्य है। आचार्य भगवान कहते हैं कि हे भव्य जीवो! यह भगवान शुद्ध आत्मा सर्व ओर से प्रकाशमान है, उसे ही तुम अनुभव करो! परन्तु विकारी भावों को आत्मारूप अनुभव नहीं करो। आत्मा राग-द्वेषादि का और कर्मों का जाननेवाला है, परन्तु उन्हें करनेवाला नहीं। आत्मस्वभाव को राग-द्वेषादि का कर्ता मानना, वह अज्ञानभाव है। आत्मस्वभाव तो राग-द्वेषादि भावों से पृथक् का पृथक् सदा चैतन्यस्वरूप से प्रकाशमान है; वही आत्मा का सच्चा स्वभाव है। इसलिए हे भव्य जीव! तू तेरे ऐसे निर्मल चैतन्यस्वभाव को अनुसरकर वैसा हो, वह तेरा कर्तव्य है। तेरे परम शुद्ध आत्मस्वभाव के अतिरिक्त दूसरा कोई तुझे उपादेय नहीं है।

शुद्ध आत्मा ही सर्व प्रकार से उपादेय है, इसलिए मैं उसे ही अनुभव करता हूँ—ऐसा अब दूसरे कलश द्वारा कहते हैं—

(अनुष्टुप्)

नित्यशुद्धचिदानन्दसम्पदामाकरं परम्।
विपदामिदमेवोच्चैरपदं चेतये पदम्॥५६॥

श्री टीकाकार कहते हैं कि जो नित्य शुद्ध चिदानन्दमय सम्पदा की खान है और विपदाओं का अपद है, ऐसे इस परमचैतन्यपद को मैं उत्कृष्टरूप से अनुभव करता हूँ—चेतता हूँ।

पहले कहा कि आत्मा में प्रकृतिबन्ध इत्यादि नहीं है; तो आत्मा कैसा है? वह अब कहते हैं। आत्मा सदा शुद्धज्ञान और आनन्द से भरपूर है; आत्मा का स्वभाव पुण्य-

पाप उपजाने की खान नहीं, परन्तु निर्मल ज्ञान-आनन्दरूपी ऋद्धि की खान है। आत्मा में विकार या कर्म नहीं, ऐसी पहले नास्ति से बात करके, अब अस्ति से बात करते हैं कि आत्मा शुद्ध चिदानन्द सम्पदा का शाश्वत् भण्डार है। श्री पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं कि मैं ऐसे शुद्ध आत्मा को ही अतिशयरूप से चेतता हूँ—अनुभव करता हूँ। शुद्धात्मस्वरूप का अनुभव करना, वही उत्तम पुरुषों की क्रिया है। केवलज्ञान प्रगट हो, तब आत्मा में चिदानन्द प्रगट हो, उसकी बात नहीं, परन्तु आत्मा तो सदा चिदानन्द से भरपूर स्वभाववाला ही है। आत्मा तो ज्ञान और आनन्द का ही पद है, इसके अतिरिक्त कोई सांसारिक सुख-दु:ख का पद आत्मा में नहीं है। स्वरूप के आनन्द के अतिरिक्त किसी आकुलता को आत्मस्वरूप में स्थान नहीं है, उसमें किसी प्रकार का क्लेश या आपदा नहीं है। किसी बाहर के स्थान में शान्ति या आनन्द नहीं है, ध्रुवस्वभावभावरूप चैतन्य सत्ता स्वयं ही आनन्द और शान्ति का स्थान है। ऐसा चैतन्यपद ही सर्वोत्कृष्ट है।

आचार्य भगवान कहते हैं कि मैं अतिशयरूप से इस चैतन्यपद का ही अनुभव करता हूँ। जगत के सर्व जीवों को भी यह एक ही पद अनुभव करनेयोग्य है।

शुद्ध आत्मा के अनुभव का फल मोक्ष है, ऐसा अब तीसरे कलश में कहेंगे।

★★★★★

उत्तम पुरुषों की क्रिया

हे भव्य जीव! तू तेरे निर्मल चैतन्यस्वभाव को अनुसरकर वैसा हो, यह तेरा कर्तव्य है। तेरे परमशुद्ध आत्मस्वभाव के अतिरिक्त दूसरा कुछ तुझे उपादेय नहीं है.... शुद्धात्मस्वरूप का अनुभव करना, यही उत्तम पुरुषों की क्रिया है।

व्याख्यान नं. २९, वीर संवत् २४७०, ज्येष्ठ कृष्ण १२, शुक्रवार

(गाथा ४० चालू)

शुद्धभाव अधिकार की ४०वीं गाथा चलती है, उसमें शुद्ध आत्मा कैसा है, उसका वर्णन करके फिर दो कलशों द्वारा उसके अनुभव की प्रेरणा की। अब तीसरे कलश में श्री पद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं कि—जो भव्यजीव ऐसे शुद्धात्मा का अभी ही अनुभव करता है, वह जीव शीघ्र मुक्ति को प्राप्त करता है:—

(वसंततिलका)

यः सर्व-कर्म-विष-भूरुह-सम्भवानि,
मुक्त्वा फलानि निजरूपविलक्षणानि।
भुङ्क्तेऽधुना सहज-चिन्मय-मात्म-तत्त्वं,
प्राप्नोति मुक्तिमचिरादिति सन्शयः कः।।५७।।

अपने आत्मस्वरूप से विपरीत सर्व कर्मरूपी विषवृक्ष से पैदा होनेवाले सांसारिक फलों को छोड़कर जो भव्य जीव सहज चैतन्यस्वरूपी आत्मतत्त्व को अभी ही भोगता है, वह जीव शीघ्र मुक्ति को प्राप्त करता है—इसमें सन्देह क्या?

सहज चैतन्यस्वरूपी शुद्ध आत्मा का अनुभव, वही मुक्ति का कारण है। 'अनुभव' कहने से उसमें शुद्ध आत्मा की श्रद्धा, शुद्धात्मा का ज्ञान और शुद्धात्मा में लीनतारूप चारित्र—ये तीनों आ जाते हैं।

यह भगवान आत्मा आनन्द-अमृत का वृक्ष है, इसमें मुक्तिरूपी फल पकते हैं। कर्म के निमित्त से जो पुण्य-पाप होते हैं, वह वास्तव में चैतन्य का पाक नहीं है परन्तु कर्मरूपी विषवृक्ष का पाक है। मिथ्यात्व या पुण्य-पाप के भावों में कर्म निमित्तरूप हैं, इसलिए उसे ही यहाँ विषवृक्ष कहा है। पुण्य और पाप, ये दोनों जहरी वृक्ष के फल हैं। आत्मा का चैतन्यस्वभाव अमृतरूप है और मिथ्यात्व तथा पुण्य-पाप के परिणाम उससे विरुद्ध हैं-जहररूप है।

प्रश्न—पापभाव तो जहररूप है, परन्तु पुण्यभाव भी जहर जैसा है?

उत्तर—हाँ, पापभाव की भाँति पुण्यभाव भी विकार है, आत्मा के स्वभाव से विरुद्धभाव है, इसलिए वह भी जहर है। शुभराग से तीर्थंकरनामकर्म बँधे, वह राग भी जहर है, आत्मस्वभाव नहीं; तो फिर दूसरे राग की तो बात क्या करना? जो कोई भाव बन्ध का कारण हो, वे सभी भाव चैतन्यस्वभाव से विरुद्ध है। यहाँ बाहर के संयोग या शरीर की बात नहीं परन्तु अन्दर के भाव की बात है। सर्वार्थसिद्धि के देव एकावतारी ही होते हैं, परन्तु एक भव करना पड़ा, वह भी विकार का फल है; जिस रागभाव से सर्वार्थसिद्धि का भव हुआ, वह भाव जहर है।

प्रश्न—क्या जहर से तीर्थंकरनामकर्म बँधता है?

उत्तर—तीर्थंकरनामकर्म अर्थात् क्या? वह तो एक जड़कर्म है, बन्धन है। जिससे बन्धन हो और आत्मा संसार में भटके, उस भाव को जहर नहीं कहना तो क्या स्वभाव कहना? चैतन्यस्वभाव अमृत है और उससे विरुद्धभाव, वह जहर ही है।

प्रश्न—अमृत और जहर इन दो के अतिरिक्त तीसरी कोई मिश्रचीज़ है या नहीं?

उत्तर—आत्मा का चैतन्यस्वभाव, वह अमृत और उससे विरुद्ध सभी भाव जहर, यह दो ही भाग है, तीसरी कोई मिश्र चीज़ नहीं है। जैसे कोई मनुष्य आधा दूध और आधा जहर मिलाकर पीवे तो उसे अकेला जहररूप ही फल आता है, कहीं आधा फल दूध का और आधा फल जहर का—ऐसा नहीं होता। उसी प्रकार जो जीव स्वभाव को और विकार को एक मानता है, उस जीव को आधा स्वभाव का फल और आधा विकार का फल—ऐसा नहीं होता, परन्तु अकेला विकार का ही फल आता है। विकार से भिन्न स्वभाव को अनुभव किये बिना धर्म नहीं होगा।

प्रश्न—'पुण्य जहर है' ऐसी कड़क भाषा कहने की अपेक्षा 'पुण्य छोड़नेयोग्य है', ऐसी नरम भाषा कहो न?

उत्तर—अज्ञानियों को, पुण्य की बहुत मिठास लगती है, उसे छुड़ाने के लिये कड़क भाषा से कहा है; वास्तव में भाषा कड़क नहीं है परन्तु पुरुषार्थ की भाषा है। यदि ढीला-ढीला कहा जाये तो 'पहले तो पुण्य करनेयोग्य है, पुण्य करते-करते धर्म होगा' —ऐसे अज्ञानी उसे आदरणीय मान बैठते हैं। श्री समयसार की ३८७ से ३८९ गाथा में

आठों प्रकार के कर्मों को दु:ख का बीज कहा है; आठ कर्मों में क्या पुण्य बाकी रह गया? पुण्य भी दु:ख का ही बीज है। त्रिकाल चैतन्यस्वभाव अमृतमय है और उस ओर का भाव भी अमृत है। १४८ कर्म प्रकृतियाँ जहर का वृक्ष है और उस ओर का भाव जहर है। जहर-वृक्ष से पैदा होनेवाले सर्व शुभ-अशुभभाव सांसारिक फल देनेवाले हैं, अपने आत्मा से विपरीत लक्षणवाले हैं। स्वर्ग का इन्द्रपद या आहारकशरीर जिस भाव से मिले, वह पुण्यभाव भी सांसारिक फल ही देनेवाला है। उन सर्व सांसारिक फलों को छोड़कर शुद्ध आत्मा का अनुभव करना, वह मुक्तिफल को देनेवाला है।

प्रश्न—मुनिवरों को यदि आहारकशरीर हो तो, जब सूक्ष्म तत्त्व में कोई शंका हो, तब भगवान के पास उसका समाधान कर सके; इस प्रकार वह लाभ का कारण है, तथापि जिस शुभभाव से आहारकशरीर मिलता है, उसे जहर क्यों कहते हो?

उत्तर—जिस भाव से आहारकशरीर मिले, वह भाव दोष है, विकार है; इसलिए वह जहर है। और, समाधानस्वरूप भगवान आत्मा स्वयं है; उसे कुछ शंका उठे और दूसरे से उसका समाधान प्राप्त करना पड़े—यह दोनों दोष है। तथा आहारकशरीर तो जड़ है। मस्तक में से पुतला (आहारकशरीर) निकलकर भगवान के पास गया, उसके कारण या शुभराग के कारण कहीं तत्त्व का समाधान नहीं होता, परन्तु मुनि के ज्ञान की निर्मलता की योग्यता से ही वह समाधान होता है। दूसरे शुभराग की बात तो दूर रहो, परन्तु सम्यग्दृष्टि को जिस शुभराग से तीर्थंकरनामकर्म बँधता है, वह राग भी अपने को और पर को लाभदायक नहीं है, क्योंकि वह रागभाव वीतरागता को और केवलज्ञान को रोकनेवाला है; जब वह जीव उस राग को टालेगा, तब वीतरागता और केवलज्ञान होगा। तथा पूर्व के राग के निमित्त से जो कर्म बँधा था, उसके उदय से दिव्यध्वनि खिरती है, उस दिव्यध्वनि के लक्ष्य से भी राग ही होता है। जब दिव्यध्वनि की ओर का लक्ष्य छोड़कर अपने स्वभाव की ओर झुके, तब जीव को सम्यग्ज्ञान होता है। इस प्रकार यदि स्वयं स्वभाव के आश्रय से समझता है तो भगवान की वाणी को धर्म का निमित्त कहा जाता है और भगवान की वाणी से लाभ हुआ, ऐसा उपचार से कहा जाता है। वास्तव में निमित्त के लक्ष्य से लाभ नहीं होता। इस प्रकार कोई राग स्व को या पर को लाभकारक नहीं है।

श्री जिनेन्द्रदेव का उदय भव्य जीवों को हितकार है—ऐसा निमित्त से बोला जाता है, परन्तु सच्चा वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है। जो जीव स्वयं अपनी पात्रता से स्वभाव समझकर अपना हित करता है, वह जीव, भगवान के प्रति भक्ति के राग के समय आरोप करके भगवान को हितकारी कहता है। ऐसा आरोप, वह अज्ञान नहीं परन्तु राग के समय का व्यवहार है।

साधकदशा में राग हुए बिना नहीं रहता परन्तु साधक जीव उसे हेय समझता है। साधकदशा में राग हो, वह अलग बात है और राग को आदरणीय मानना, वह अलग बात है। राग हो, वह चारित्र का दोष है और राग को आदरणीय मानना, वह तो श्रद्धा का दोष है—मिथ्यात्व है। जिसे राग हो, वह जीव अज्ञानी है; ज्ञानी को राग होता ही नहीं—ऐसा कहनेवाला जीव सम्यग्दर्शन का सच्चा स्वरूप नहीं समझा है। राग, वह विकार है-बन्धन है-इतनी बात सत्य, परन्तु राग, वह मिथ्यात्व नहीं-अज्ञान नहीं। हाँ, यदि राग को अपना स्वरूप स्वीकार करे या राग से लाभ माने तो वह जीव मिथ्यात्वी-अज्ञानी है। रागरहित शुद्धात्मा के अनुभव से मिथ्यात्व और अज्ञान टलने के बाद, साधकजीव को जो राग-द्वेष होते हैं, वे यद्यपि विकार हैं—बन्ध का कारण है, परन्तु मिथ्यात्व या अज्ञान नहीं। शुभराग अशुभ को टालनेमात्र है परन्तु उससे कहीं मिथ्यात्व या अज्ञान नहीं टलता। तथा शुभ-अशुभराग हो, इससे कहीं मिथ्यात्व या अज्ञान नहीं हो जाता। शुभराग को यदि धर्म का कारण माने तो अवश्य मिथ्यात्व और अज्ञान होता है।

धर्मी जीव को राग हो, उस समय वह राग को आदरता नहीं परन्तु शुद्धस्वभाव को ही आदरता है, इसलिए उसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान में दोष नहीं है। जिस वस्तु का जैसा स्वभाव है, वैसा सम्यग्ज्ञान से समझना पड़ेगा। स्वभाव में तर्क नहीं होता, तर्क से स्वभाव समझ में नहीं आता और स्वभाव समझे बिना भव का अन्त नहीं आता। आत्मा तो त्रिकाल चैतन्यलक्षणरूप है, राग उससे विलक्षण है। चैतन्य में राग नहीं और राग में चैतन्य नहीं। राग लक्षण से आत्मा अनुभव में नहीं आता परन्तु चैतन्य लक्षण से अनुभव में आता है। जितने पुण्य और पापभाव हैं, वे कोई आत्मतत्त्व नहीं। इस प्रकार रागादि सर्व परभावों से भिन्न शुद्ध चैतन्यस्वरूप को समझकर जिस समय उसमें एकाग्र हुआ,

उसी समय उस जीव को शुद्ध आत्मतत्त्व का अनुभव हुआ है। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान हुए हैं। अभी ऐसा शुद्धात्म-अनुभव हो सकता है। आचार्यदेव कहते हैं कि अभी जो भव्य जीव ऐसे शुद्धात्मा का अनुभव करता है, वह अल्पकाल में मुक्ति पाता है—उसमें कौन संशय करे?

धर्मात्मा को पर्याय में रागभाव होता है, उसे कर्म नहीं कराते परन्तु पुरुषार्थ की अपूर्णता से होता है, परन्तु शुद्धस्वभाव दृष्टि में परमात्मा को उस पुरुषार्थ की अपूर्णता का या राग का स्वीकार नहीं है। ऐसा जानकर, 'आत्मा राग स्वरूप है', ऐसी कौन शंका करे? स्वभाव में कौन सन्देह करे? और जिसे त्रिकाली पूर्ण स्वभाव नि:शंकता हो, उसे अपनी मुक्ति का सन्देह कैसे होगा? होगा ही नहीं।

आत्मस्वभाव में भव नहीं है, भव का भाव नहीं है, ऐसे शुद्ध मुक्तस्वभाव को ही धर्मी जीव आदरता है, रागादि को जरा भी आदरणीय नहीं मानता—ऐसे धर्मी को अल्प काल में मुक्ति होती है, उसमें क्या शंका? परजीव तो माने या न माने, परन्तु जो जीव स्वयं अपने शुद्ध आत्मा को वर्तमान में अनुभव करता है, उसे अपनी मुक्ति के लिये नि:शंकता वर्तमान में ही होती है। आत्मा का स्वभाव त्रिकाल मुक्तस्वरूप है। जिसे अपनी मुक्ति होने में शंका है, उस जीव को त्रिकाली स्वभाव की श्रद्धा ही नहीं है।

आत्मा के शुद्धस्वभाव से विलक्षण भावों से होते पाँच इन्द्रियों के आलम्बन वाले जो सांसारिक सुख, उन्हें जहर समान जानकर जो भव्यात्मा छोड़ता है और अपने अतीन्द्रिय सुखस्वरूप शुद्धात्मतत्त्व का अनुभव करता है, वह जीव अल्प काल में नि:सन्देह मुक्ति पाता है। यहाँ शुद्धात्मा के अनुभव की महिमा करके उसका फल बताते हैं, इससे पर्याय की बात है। पर्याय तो ज्ञान का विषय है। सम्यक्श्रद्धा तो द्रव्य और मुक्तपर्याय के भेद को स्वीकार नहीं करती। अभी मुक्तपर्याय नहीं और अल्प काल में मुक्तपर्याय होगी- ऐसे दो भेद द्रव्यस्वभाव में कैसे? अभी ही आत्मस्वभाव मुक्तस्वरूप है, उसमें बन्ध और मोक्ष—ऐसे दो भेद नहीं हैं। बन्ध का काल अनादि-शान्त से, मोक्ष का काल सादि -अनन्त है, और द्रव्यस्वभाव तो अनादि-अनन्त त्रिकाल एकरूप है। द्रव्य और पर्याय दोनों को जैसा है, वैसा सम्यग्ज्ञान जानता है। श्रद्धा तो एकरूप द्रव्यस्वरूप को ही

स्वीकार करती है, अवस्था के भेद को वह स्वीकार नहीं करती। बन्ध-मोक्ष के भेदरहित एकरूप स्वभावदृष्टि से सहज शुद्ध आत्मतत्त्व का अनुभव करने से अल्प काल में मुक्तपर्याय प्रगट होती है।

यहाँ ४०वीं गाथा पूरी हुई।

★★★★★

(गाथा ४१)

औदयिक-औपशमिक-क्षायोपशमिक और क्षायिक ये चारों विभाव स्वभाव है, ये चारों भाव शुद्ध आत्मा को नहीं हैं; इन चारों भावों से निरपेक्ष जो त्रिकाली पारिणामिकभाव है, वह शुद्धात्मा है। यहाँ औदयिक आदि चारों भावों का स्वरूप वर्णन कर, उनसे निरपेक्ष पंचम पारिणामिकभाव का स्वरूप आचार्यभगवान बतलाते हैं।

इस गाथा में चार विभावस्वभावों के स्वरूप के कथन द्वारा पंचम पारिणामिकभाव का स्वरूप कहा है—

णो खइयभावठाणा णो खयउवसमसहावठाणा वा।
ओदइयभावठाणा णो उवसमणे सहावठाणा वा।।४१।।

न क्षायिकभावस्थानानि न क्षयोपशमस्वभावस्थानानि वा।
औदयिकभावस्थानानि नोपशमस्वभावस्थानानि वा।।४१।।

नहिं स्थान क्षायिकभाव के, क्षायोपशमिक तथा नहीं।
नहिं स्थान उपशमभाव के, होते उदय के स्थान नहिं॥४१॥

अर्थ:—पूर्वकथित शुद्ध जीवास्तिकाय को क्षायिकभाव के स्थान नहीं, क्षायोपशमिकभाव के स्थान नहीं, औदयिकभाव के स्थान नहीं, और औपशमिकभाव के स्थान भी नहीं।

शास्त्र पढ़े हुए कहे जानेवाले विद्वान भी यह गाथा पढ़कर भड़क उठे हैं। गुरुगम बिना मात्र शास्त्र के अभ्यास से यह बात समझ में आये, ऐसी नहीं है। क्षायिकभाव भी आत्मा का स्वरूप नहीं! यह शुद्धदृष्टि के विषय का वर्णन है। इसे नहीं समझनेवाले को वेदान्त जैसा लगता है, परन्तु वेदान्त के साथ इस बात को जरा भी मेल नहीं है।

अकेला परमपारिणामिकस्वभावभाव वह आत्मा है। वह 'भाव' अविनाशी ध्रुवस्वभावरूप है। उसे कोई कर्म के उदय की, उपशम की, क्षयोपशम की या क्षायिक की अपेक्षा नहीं है। ऐसे त्रिकाली निरपेक्ष आत्मस्वभाव का यहाँ वर्णन है, उसकी श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है।

केवलज्ञान और सिद्धदशा, वह क्षायिकभाव है; वह क्षायिकभाव भी आत्मा नहीं है, क्योंकि वह एक समय मात्र की पर्याय है, वह भावकर्म के क्षय की अपेक्षा रखती हैं; इसलिए उस क्षायिकभाव जितना आत्मा की श्रद्धा करने से पूरा निरपेक्ष वस्तु स्वभाव प्रतीति में नहीं आता, तो फिर शुभ-अशुभभावों को आत्मा का स्वरूप मानना, वह तो स्थूल मिथ्यात्व है। सिद्धपना कहीं आत्मा से बाहर नहीं है, वह आत्मा की ही एक दशा है, परन्तु यहाँ एक समयमात्र पर्याय का वर्णन नहीं है। जो त्रिकाल एकरूप निरपेक्ष सहजस्वभावी आत्मतत्त्व है, वह अभेददृष्टि का विषय है और उसका यहाँ वर्णन है।

आत्मा में पाँच प्रकार के भाव हैं—औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक और पारिणामिक; उसमें औदयिक आदि चार भाव विभाव स्वभाव हैं अर्थात् कि विशेष भाव हैं, उसमें कर्म के उदय की, उपशम की, क्षयोपशम की या क्षय की अपेक्षा आती है। इन चारों भावों से पार पाँचवाँ पारिणामिकभाव है, वह सामान्य है। त्रिकाल अखण्ड ध्रुवरूप सहज स्वाभाविक भाव है, उसे किसी कर्म के सद्भाव की या अभाव की अपेक्षा नहीं है। ऐसा निरपेक्ष पारिणामिकभाव, वह पूरे आत्मा का त्रिकाली स्वरूप है।

जैसे धर्मास्तिकाय आदि चार अरूपी तत्त्व निरपेक्ष हैं, उनकी पर्याय में अधूरा या पूरा तथा शुद्ध या अशुद्ध, ऐसे कोई भेद नहीं हैं। वे द्रव्य से, गुण से और पर्याय से सदा एकरूप है; उसी प्रकार आत्मतत्त्व में भी निरपेक्ष पारिणामिकस्वभाव है; अधूरा या पूरा समय की अपेक्षारहित, त्रिकाल एकरूप पारिणामिक वस्तुस्वभाव है। एक-एक समय में पूरा स्वभाव है, वह पारिणामिकभाव है। तीनों काल के इकट्ठे होकर पूरी वस्तु है, ऐसा नहीं, परन्तु एक ही समय में पूरी वस्तु त्रिकाली सामर्थ्यसहित है और दूसरे समय में भी वह पूरी वस्तु ऐसी की ऐसी है; इस प्रकार एक समय में पूरी वस्तु है, उसे यहाँ पारिणामिकभाव कहते हैं।

पूरी आत्मवस्तु किसे कहा जाता है? अथवा किसके आश्रय से धर्म होता है? उसकी यह बात है। आत्मा एक समय में द्रव्य-गुण-पर्याय से परिपूर्ण वस्तु है; वर्तमान एक समयमात्र की उत्पादरूप प्रगट अवस्था में कर्म का सद्भाव या अभाव निमित्तरूप है; उस निमित्त की अपेक्षा छोड़कर और वर्तमान प्रगट अवस्था का लक्ष्य छोड़कर

देखने से आत्मा का जो निरपेक्ष सहजस्वभाव है, वह परमपारिणामिकभाव है, वही पूरी आत्मवस्तु है। उसके आधार से धर्म होता है।

सिद्धदशा सम्पूर्ण शुद्ध है, परन्तु वह पूरा आत्मा नहीं है, क्योंकि वह तो उत्पाद-व्ययरूप एक पर्याय है, कर्म के अभाव की अपेक्षावाला भाव है। जो उत्पाद-व्ययरहित, निरपेक्ष वस्तु-गुण और उसकी अप्रगटरूप वर्तमान पर्याय है, वह पारिणामिकभाव है। 'अप्रगटरूप पर्याय' कहने से वह उत्पाद-व्ययरूप भाव नहीं समझना, परन्तु उत्पाद-व्यय की अपेक्षा बिना का त्रिकाल एक सरीखा ध्रुवभाव है, वह समझना।

'**सकलकर्मोपाधि विनिर्मुक्तः परिणामे भवः पारिणामिकभावः**' अर्थात् सर्व कर्मोपाधिरहित, आत्मा के सहज स्वाभाविक परिणाम में होता है, वह पारिणामिकभाव है। आत्मस्वभाव सहज परिणामरूप है, वह पारिणामिकभाव है। जिन भावों में कर्म की अपेक्षा हो, वे कोई भाव आत्मा का त्रिकाली स्वभाव नहीं है। जैसे धर्मास्तिकाय द्रव्य अपने स्वभाव से सदा एकरूप है, उसे कोई पर की अपेक्षा नहीं; उसी प्रकार आत्मा पर की अपेक्षारहित अकेले निरपेक्ष स्वभावरूप है। परमपारिणामिकभाव है। प्रत्येक द्रव्य में पर की अपेक्षा बिना का एकरूप निरपेक्षस्वभावभाव है, वह पारिणामिकभाव है।

द्रव्यत्वगुण के कारण द्रव्य के जो परिणाम होते हैं, उनकी यहाँ बात नहीं है, क्योंकि द्रव्यत्वगुण के कारण परिणाम होते हैं, उसमें तो शुद्ध तथा अशुद्ध सब परिणाम आते हैं, उसमें अनेक प्रकार पड़ते हैं। यहाँ तो एकरूप पारिणामिकभाव की बात है; उसे 'परिणाम' कहा जाता है, तथापि उसमें अनेकरूपता नहीं। उत्पाद-व्ययरूप परिणमन नहीं है। द्रव्य-गुण और उसका निरपेक्ष वर्तमान—ये तीनों अभेदरूप पारिणामिकभाव है। त्रिकाली द्रव्य-गुण, वह सामान्य पारिणामिकभाव और उसका निरपेक्ष ध्रुवपरिणाम, वह विशेष पारिणामिकभाव—यह दोनों होकर पारिणामिकभाव है।

यह बात सिद्ध के आत्मा की नहीं, परन्तु सभी आत्मा के स्वरूप की है। सिद्धपना या संसारीपना, वह तो एक अवस्था है। उसे गौण करके त्रिकाल आत्मा को देखने से सभी आत्मा एक सरीखे स्वभाववाले हैं। जैसे धर्मास्तिकाय दूसरे की अपेक्षा बिना स्वयं से परिपूर्ण है, उसी प्रकार सब आत्मा पर की अपेक्षा बिना के, अपने स्वरूप से एकदम

परिपूर्ण है, ऐसे आत्मतत्त्व को लक्ष्य में लेकर उसकी प्रतीति करने से सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान प्रगट होते हैं और उसके ही विशेष अनुभव से सम्यक्चारित्र तथा मोक्षपर्याय प्रगट होती है। यह नयी प्रगटती पर्याय के अतिरिक्त वस्तु की एक निरपेक्ष पर्याय है, वह सदा एकरूप पूर्ण ही है, उसमें निमित्त की अपेक्षा नहीं लगती। निमित्त की अपेक्षा लेने से अधूरा दशा या पूरी दशा, ऐसे भेद पड़ते हैं। परन्तु ध्रुवरूप कारणशुद्धपर्याय है, उसमें कोई भेद नहीं पड़ते। यह ध्रुवरूप निरपेक्ष पर्याय और त्रिकाली द्रव्य, ये दोनों होकर दृष्टि के विषयभूत वस्तु की पूर्णता है। * यही शुद्धनिश्चय का विषय है और जो बन्ध-मोक्षरूप भाव हैं, वह व्यवहारनय का विषय है। ये दोनों प्रमाण का विषय है। (*यहाँ दृष्टि के विषय को समझाने के लिये सामान्य-विशेषरूप दो भेद कहे हैं, वास्तव में तो वह अभेदरूप एक वस्तु ही है।)

क्षायिकभाव विकाररहित सम्पूर्ण शुद्ध है, परन्तु वह निरपेक्षस्वभावरूप भाव नहीं है। जैसे धर्मास्तिकाय की पर्याय तो तीनों काल एकरूप है, वैसे क्षायिकभाव नहीं हैं; क्षायिकभाव तो नया प्रगट होता है, वह सादि-अनन्त है। इस क्षायिकभाव के अतिरिक्त एक निरपेक्षभाव यदि वर्तमान न हो तो द्रव्य ही सिद्ध नहीं होगा। वह निरपेक्ष पर्यायरूप भाव वर्तमान... वर्तमान... सत्रूप वर्तता है; उस भाव का अनुभव नहीं होता परन्तु उत्पादरूप भाव का अनुभव होता है।

वस्तु और गुण तो सामान्यरूप है और उसके जैसा ही उसका वर्तमान वर्तता है, वह विशेषरूप है, वह सदा निर्मलरूप है। वर्तमान में ही यदि निर्मलता न वर्तती हो तो निर्मलस्वभाव टिकेगा कहाँ? वह ध्रुवरूप निर्मल भाव वर्तमान शक्तिरूप है, उसमें प्रगट या अप्रगट, ऐसे दो भेद नहीं हैं। प्रगट और अप्रगटरूप भेद तो उत्पाद पर्याय में (औदयिक आदि चार भावों में) होते हैं। सब जीवों को तीनों काल एकरूप ध्रुवपर्याय वर्तती है। 'ध्रुवपर्याय' कही जाती है, तथापि वह व्यवहारनय का विषय नहीं, परन्तु निश्चयनय का विषय है, वह द्रव्य से सदा अभेदरूप है, उसमें व्यक्त या अव्यक्त ऐसे भेद नहीं हैं। यह ध्रुवपर्याय शक्तिरूप है और सिद्धपर्याय इत्यादि भाव व्यक्तिरूप है।

अपने स्वभाव की अपेक्षा से समस्त प्रकार से परिणमित भाव, वह पारिणामिकभाव

है। पूरी वस्तु वर्तमान... वर्तमानरूप वर्तती है। स्वभाव कायम रहकर वर्तमान पर्याय में नमा हुआ भाव, वह पारिणामिकभाव है। पारिणामिकभाव अर्थात् सहजस्वाभाविकभाव, त्रिकाल एकरूप भाव, ध्रुवरूप पर्याय, पर की अपेक्षारहित परिपूर्ण भाव; श्री समयसार में जिसे 'ज्ञायकभाव' रूप से वर्णन किया है, वह भी यही है।

उत्पादपर्याय एक समयमात्र की ही होती है। वर्तमान जो पर्याय है, वह एक समयमात्र है, दूसरे समय उसका व्यय हो जाता है। परन्तु यह पारिणामिकभाव पर्यायरूप होने पर भी वह पर्याय उत्पाद-व्ययरूप नहीं परन्तु ध्रुवरूप है। वस्तु कहीं भूतकाल में रह नहीं जाती परन्तु पूरी वस्तु वर्तमान में ही वर्तती है। पूरी वस्तु अपना वर्तमानपना रखकर ही टिकती है। जैसी वस्तु है, वैसा ही पूरा उसका वर्तमान वर्तता है। उस वर्तमान को ध्रुवपर्याय कहा जाता है। वह ध्रुवपर्याय वर्तमान... वर्तमान करके अनादि-अनन्त एकरूप है।

क्षायिकभाव आत्मा की शुद्धदशा है; आत्मा की शुद्धदशा सादि-अनन्त है। परमाणु में शुद्धदशा सादि-सान्त है, अर्थात् परमाणु एक बार शुद्ध होने के पश्चात् वापस अशुद्ध होता है—एक बार स्कन्ध से पृथक् पड़ने के पश्चात् वापस स्कन्ध में मिलता है, ऐसा उसका स्वभाव है। परन्तु आत्मा एक बार सम्पूर्ण शुद्धदशारूप परिणमित होने के पश्चात् फिर कभी अशुद्ध नहीं होता, एक बार कर्म का सर्वथा क्षय होने के पश्चात् फिर कभी कर्म का संयोग नहीं होता। आत्मा पर्याय बिना का कभी नहीं हो सकता, या सिद्धदशा और या संसारदशा—दोनों में से एक अवस्था तो प्रत्येक समय में उत्पादरूप होती ही है। परन्तु यहाँ ऐसा समझाना है कि वह सिद्धदशा या संसारदशा जितना आत्मद्रव्य नहीं है, उस पर्याय के समय ही पूरा ध्रुवस्वभाव एकरूप है, वह त्रिकाली आत्मद्रव्य है। यद्यपि सिद्धदशा या संसारदशा, वह भी आत्मा की ही अवस्थायें हैं, परन्तु उसमें पर की अपेक्षा आती है। संसारदशा में कर्म के सद्भाव की अपेक्षा है और सिद्धदशा में कर्म के अभाव की अपेक्षा है; और उस एक अवस्था से आत्मा का पूरा स्वरूप ज्ञात नहीं होता। आत्मस्वभाव का वर्तमान जो सदा एक सरीखा ही वर्तता है, वह पारिणामिकभाव है, उससे पूरा आत्मस्वरूप ज्ञात होता है, इसलिए वही उपादेय है।

टीका

कर्म के क्षय के समय होता है, वह क्षायिकभाव है। कर्मों के क्षयोपशम के समय होता है, वह क्षायोपशमिकभाव है। कर्म के उदय के समय होता है, वह औदयिकभाव है। कर्मों के उपशम के समय होता है, वह औपशमिकभाव है और सकल कर्म-उपाधि से रहित परिणाम में होता है, वह पारिणामिकभाव है।

औदयिक आदि चार विभावस्वभाव जीव में नहीं है। अर्थात् कि उन चार भावोंरहित जो पारिणामिकस्वभावभाव है, वह जीव का त्रिकाली स्वरूप है—ऐसा यहाँ बताया है। आत्मा के सहज स्वभाव में बन्ध-मोक्ष की क्रिया नहीं; बन्ध और मोक्ष की अपेक्षारहित जो सहज स्वरूप है, उसे पारिणामिकभाव कहा है; यह भाव सब जीवों में एक सरीखा सदा ही है, वही शुद्ध जीवतत्त्व है। उसकी पहिचान और श्रद्धा से धर्म होता है।

कर्म का क्षय होने से आत्मा का जो भाव उत्पन्न होता है, वह क्षायिकभाव है। जैसे कि अनन्तानुबन्धी कषाय की चार तथा दर्शनमोहनीय की तीन कर्म प्रकृतियों का क्षय होने से आत्मा में क्षायिक सम्यक्त्व प्रगट होता है, वह क्षायिकभाव है। यह भाव आत्मा के त्रिकाल स्वभावरूप नहीं परन्तु एक समय की पर्यायरूप है।

कर्म के क्षयोपशम के समय आत्मा में जो भाव हो, उसे क्षायोपशमिकभाव कहा जाता है। यह भाव किंचित् निर्मल और किंचित् मलिनतावाला है। जैसे कि दर्शनमोहनीय आदि कर्म की सात में से छह प्रकृतियों का अनुदयरूप उपशम, सम्यक्त्वमोहनीय प्रकृति के देशघाति स्पर्धकों का उदय और छह प्रकृतियों का सर्वघाति स्पर्धकों का उदयाभावी क्षय हो, उस समय आत्मा में क्षयोपशम सम्यक्त्व होता है। यह भाव भी आत्मा का त्रिकाली स्वरूप नहीं है, परन्तु एक समयमात्र का भाव है।

कर्म के उदय के समय आत्मा में जो विकारी भाव होते हैं, वह औदयिकभाव है। कर्म का उदय कहीं विकार नहीं कराता परन्तु जीव की पर्याय में विकार हो, तब कर्म का उदय निमित्तरूप होता है, इसलिए उसे औदयिकभाव कहा जाता है। जैसे कि मिथ्यात्वकर्म के उदय के समय आत्मा का जो मिथ्यात्वभाव होता है, वह औदयिकभाव

है। मैं मनुष्य हूँ, मैं देव हूँ, मैं नारकी हूँ—ऐसी मान्यता तथा राग-द्वेष, वह औदयिकभाव है, विकार है। वह भाव एक समयमात्र का विकार है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है।

कर्म के उपशम के समय आत्मा में औपशमिकभाव होता है। जैसे शान्त पानी में कीचड़ बैठ गया हो और पानी वर्तमान में स्वच्छ हो, उसी प्रकार कर्म वर्तमान उदयरूप न हो, परन्तु सत्ता में रहे हों और उस समय आत्मा में वर्तमान निर्मल भाव प्रगट हुआ हो परन्तु विकार की योग्यता सर्वथा टली न हो, उसे औपशमिकभाव कहा जाता है। जैसे कि दर्शनमोहनीय सर्व प्रकृति के उपशम के समय आत्मा में औपशमिक सम्यग्दर्शन होता है। यह भाव निर्मल पर्याय है परन्तु यह आत्मा का त्रिकाली स्वरूप नहीं है।

इन चार भावों में औदयिकभाव बन्ध का कारण है और औपशमिक, क्षायोपशमिक, तथा क्षायिक, ये तीन भाव बन्ध का कारण नहीं है, परन्तु वे कोई भाव त्रिकाल नहीं है, क्षणमात्र के हैं, उनके लक्ष्य से आत्मा का अनुभव नहीं होता। यदि उन भावों जितना ही आत्मा को माने तो पर्यायबुद्धि है। इसलिए यहाँ आचार्य भगवान कहते हैं कि ये चारों भाव आत्मा को नहीं अर्थात् कि आत्मा इन चार भावों जितना नहीं; आत्मा को अनादि-अनन्त पारिणामिकभावस्वरूप है।

सर्व कर्मरूपी उपाधि से रहित जो भाव आत्मा के स्वाभाविक स्वरूप में है, वह पारिणामिकभाव है; वह पारिणामिकभाव त्रिकाल है, सब गुणों में व्यापक है, उसे पर की अपेक्षा नहीं, उस भाव के आश्रय से धर्म होता है।

जो केवलज्ञानी हुए, उन्हें ही पारिणामिकभाव होता है—ऐसा नहीं है। परन्तु सभी जीवों को वर्तमान में ऐसा भाव है, उसकी यह बात है। आत्मा के सभी गुणों में पारिणामिकभाव है। वह अपने स्वभाव का विषय है। स्वभाव को पर की अपेक्षा नहीं, स्वभाव तर्क से अगोचर है, पर की अपेक्षा से भी वह अगोचर है। '**परिणामे भवः पारिणामिकः**' अर्थात् अपना सहज स्वाभाविक परिणाम में हो, वह पारिणामिकभाव है। यह पारिणामिकभाव वस्तु स्वभाव में से पृथक् नहीं परन्तु एकमेक है। इसके अतिरिक्त के क्षायिक इत्यादि कोई भी भाव आत्मा का सहज स्वभाव नहीं है। क्योंकि क्षायिकभाव तो पहले नहीं था और बाद में प्रगट हुआ, ऐसे उसमें दो भेद पड़ते हैं,

परन्तु 'आत्मा पहले नहीं था और बाद में प्रगट हुआ' ऐसा नहीं है, वह तो त्रिकाल एक स्वभावरूप है। क्षायिकभाव भी एक समय की मर्यादावाला है, त्रिकाली आत्मा उस समयमात्र के भाव जितना नहीं है। इसलिए क्षायिकभाव का भी लक्ष्य करने जाने से भी सम्यग्दर्शन नहीं होता। इस अपेक्षा से आचार्यदेव कहेंगे कि क्षायिकभाव भी मोक्ष का कारण नहीं है; सर्व कर्म की अपेक्षारहित, सदा शुद्धरूप, पूर्णरूप अपना कारणपरमात्मा स्वभाव है, उसके लक्ष्य से—उसके आश्रय से ही सम्यग्दर्शन इत्यादि होते हैं, इसीलिए वह मोक्ष का कारण है और वही उपादेय है।

अब, इन पाँच भावों के विशेष प्रकारों का वर्णन करके फिर आचार्यदेव कहेंगे कि इन पाँच भावों में से औदयिक-औपशमिक-क्षायोपशमिक या क्षायिक—ये चार भाव, कर्म की उपाधिवाले हैं; इसलिए द्रव्यदृष्टि में ये कोई भाव मुक्ति का कारण नहीं है। अर्थात् इन किसी भावों की भावना से मुक्ति नहीं होती, परन्तु जो तीनों काल निरुपाधिक है, ऐसा शुद्ध परमपारिणामिकभाव ही मुक्ति का कारण है, उसी की भावना करने से मुमुक्षु जीव मुक्ति प्राप्त करते हैं। यद्यपि पारिणामिकभाव, पर्याय अपेक्षा से बन्ध-मोक्ष का कारण नहीं है परन्तु यहाँ दृष्टि की अपेक्षा से कथन होने से, त्रिकाली पारिणामिकभाव की दृष्टि से ही मुक्ति होती है; इसलिए परमपारिणामिकभाव को ही मुक्ति का कारण कहा है—ऐसा समझना चाहिए। मोक्षमार्ग स्वयं पर्यायरूप है, इसलिए पर्याय अपेक्षा से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग को मोक्ष का कारण कहा जाता है; द्रव्य अपेक्षा से त्रिकाली पारिणामिकस्वभाव ही मोक्ष का कारण है, उसके आश्रय से ही मोक्षपर्याय प्रगट होती है।

इन पाँच भावों में से औपशमिकभाव दो प्रकार का है; क्षायिकभाव नौ प्रकार का है; क्षायोपशमिकभाव अठारह प्रकार का है; औदयिकभाव इक्कीस प्रकार का है और पारिणामिकभाव तीन प्रकार का है। इस प्रकार कुल तेरह प्रकार के जीव के भाव हैं।

औपशमिकसम्यक्त्व तथा औपशमिकचारित्र, ये दो भेद औपशमिकभाव के हैं। अनादि का अधर्मी जीव जब धर्म करता है, तब सबसे पहले उसे औपशमिकसम्यक्त्व प्रगट होता है।

क्षायिकभाव के नौ प्रकार इस प्रकार हैं—क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र अर्थात् यथाख्यात्चारित्र, केवलज्ञान, केवलदर्शन तथा क्षायिकदान-लाभ-भोग-उपभोग और वीर्य। इनमें से क्षायिक सम्यक्त्व तथा क्षायिक चारित्र तो मोहकर्म के क्षय से प्रगट होता है, केवलज्ञान ज्ञानावरणीयकर्म के क्षय से प्रगट होता है, केवलदर्शन दर्शनावरणीय कर्म के क्षय से प्रगट होता है और क्षायिक दानादि पाँचों भाव अन्तराय कर्म के क्षय से प्रगट होते हैं।

यह सब भेद एक समयमात्र के हैं। इन समयमात्र भाव जितना आत्मा नहीं है। केवलज्ञान इत्यादि भाव प्रगट होने के पश्चात् भले अनन्त काल तक ऐसे के ऐसे रूप से रहे, परन्तु वे भाव त्रिकाल स्वभावरूप नहीं हैं, वे भी समय-समय पलटते भाव हैं; उन सब एक समयमात्र के भाव जितना आत्मस्वभाव नहीं है। आत्मा तो प्रत्येक समय में द्रव्य-गुण और निरपेक्षपर्याय से परिपूर्ण स्वरूप है; ऐसा आत्मा का सहज स्वभाव, वही पारिणामिक तत्त्व है। रागादिभाव आत्मा की खान में से नहीं आते।

प्रश्न—रागादिभाव आत्मा की खान में से नहीं आते और पुद्‌गलों में भी नहीं होते, तो फिर वे किसके आधार से होते हैं?

उत्तर—आत्मा के त्रिकाली स्वभाव के आधार से रागादि नहीं होते तथा जड़ के आधार से भी नहीं होते, इसलिए रागादि का कोई आधार ही नहीं अर्थात् स्वभावदृष्टि से रागादिभाव होते ही नहीं। रागादिभाव पुद्‌गल में नहीं तथा आत्मा के स्वभाव में भी नहीं, इसलिए आत्मस्वभाव की दृष्टि से तो रागादिभाव कोई वस्तु ही नहीं और पर्यायदृष्टि से देखने पर एक समयमात्र रागादिभाव हैं, अज्ञानी के राग-द्वेष, वे आधेय हैं और एक समयमात्र का अज्ञानभाव, वह उनका आधार है। ज्ञानी को जो अल्प राग-द्वेष होते हैं, उसे वे अपने स्वभाव में एकमेकरूप से अनुभव नहीं करते परन्तु उन रागादि से भिन्न स्वभाव को अनुभव करते हैं, इसलिए उन्हें परमार्थ से रागादि होते ही नहीं।

किसी को ऐसा लगे कि ऐसा सूक्ष्म समझने में क्या फायदा है?—तो उसे कहते हैं कि हे भाई! आत्मा स्वयं अरूपी-सूक्ष्म है। यदि आत्मा का सुख चाहिए हो तो उसका सूक्ष्म स्वभाव समझना चाहिए। शरीर की क्रिया की और पुण्य-पाप की स्थूल

बातें तो अनन्त बार सुनी हैं और उसमें धर्म माना है, परन्तु शरीर से भिन्न और पुण्य-पाप से पार अपना सूक्ष्म आत्मस्वभाव कैसा है, वह जाना नहीं; इसीलिए जीव संसार में भटकता है। ज्ञान का स्वभाव सबको जानने का है। रूपी पदार्थों को जाननेवाला स्वयं अरूपी है और अरूपी पदार्थों को जाननेवाला भी स्वयं अरूपी है। यदि अरूपी आत्मस्वभाव की महिमा करके उत्साह से-रुचि से समझना चाहे तो अवश्य समझ में आये, ऐसा ही आत्मस्वभाव है। 'नहीं समझा जा सकता' ऐसा आत्मस्वभाव नहीं है। अपने शुद्ध आत्मस्वभाव को समझना, वह मुक्ति का कारण है।

★★★★★

तो संसार दुःख भोगने नहीं पड़ेंगे

'जीव के गुणों में से एक अंश भी कम नहीं हुआ; ऐसा का ऐसा पूरा-पूरा स्वभाव है, इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि हे जीव! बाहर के संयोग से तू पृथक् है और संयोग के लक्ष्य से जो हर्ष या शोक के भाव हों, वह भी तेरा स्वभाव नहीं। तेरा स्वभाव सहज चैतन्यरूप है। ऐसे स्वभाव को तू समझ तो पुनः कभी यह संसारदुःख तुझे भोगना नहीं पड़ेंगे।

व्याख्यान नं. ३०, वीर संवत् २४७०, ज्येष्ठ कृष्ण १३, शनिवार

(गाथा ४१ चालू)

यह शुद्धभाव अधिकार है, उसमें शुद्ध आत्मा का वर्णन चलता है। औदयिक आदि चार भाव आत्मा का स्वभाव नहीं। परन्तु उनसे पार ऐसा पंचम पारिणामिकभाव वह आत्मस्वभाव है। औदयिक आदि चार भावों के आश्रय से आत्मा मुक्ति नहीं कर सकता, यह बात सूक्ष्म अर्थात् अन्तरंग स्वभावदृष्टि की है। आत्मा का अन्तर स्वभाव जो त्रिकाल शुद्ध है, उसके आधार से मुक्ति होती है। कर्म की अपेक्षा से आत्मा में जो चार भाव होते हैं, वह क्षणिक पर्यायें हैं, त्रिकाली स्वरूप नहीं। कर्म की अपेक्षा बिना का जो त्रिकाली स्वरूप है, वह पारिणामिकभाव है।

यहाँ पाँच भावों के विशेष प्रकारों का वर्णन चलता है, उसमें औपशमिक तथा क्षायिक इन दो भावों के प्रकारों का वर्णन पूरा हुआ है। अब क्षायोपशमिकभाव के प्रकार वर्णन करते हैं। क्षायोपशमिकभाव के अठारह प्रकार हैं, वे इस प्रकार—मति-श्रुत-अवधि-मन:पर्यय ये चार ज्ञान, कुमति-कुश्रुत-विभंग ये तीन अज्ञान; चक्षु-अचक्षु-अवधि, ये तीन दर्शन; काल-करण-उपदेश-उपशम-प्रायोग्य ये पाँच लब्धि, तथा क्षायोपशमिक सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक चारित्र और संयमासंयमरूप परिणति।

यहाँ क्षायोपशमिकभाव के प्रकारों में पाँच लब्धियों का वर्णन आया है। काललब्धि को क्षयोपशमलब्धि भी कहा जाता है। उपशमलब्धि को विशुद्धिलब्धि भी कहा जाता है और उपदेशलब्धि को देशनालब्धि भी कहा जाता है तथा बाकी की दो प्रायोग्यलब्धि और करणलब्धि है। यह पाँच प्रकार की लब्धि में आत्मा का पुरुषार्थ है। श्री तत्त्वार्थसूत्र में क्षायोपशमिकभाव के भेदों का वर्णन करते हुए दान-लाभ-भोग-उपभोग और वीर्य इन पाँच लब्धियों को गिना गया है और यहाँ काल-विशुद्धि-देशना-प्रायोग्य और करण इन पाँच लब्धियों को गिनने में आया है। बहुत से अज्ञानी काललब्धि इत्यादि को कर्म-आधीन मानते हैं, इसलिए काललब्धि इत्यादि कर्मों के आधीन नहीं, परन्तु जीव के क्षायोपशमिकभावरूप पुरुषार्थ से होते हैं, ऐसा बताने के लिये यहाँ उसे क्षायोपशमिकभाव के प्रकारों में गिना गया है।

१— **काललब्धि—**जीव स्वयं स्वभावसन्मुख के पुरुषार्थ से अपनी निर्मलपर्यायरूप स्व-काल की प्राप्ति करता है, उसे काललब्धि कहा जाता है; सम्यग्दर्शन का पुरुषार्थ करनेवाले जीव को स्वभाव समझने जितना ज्ञान का उघाड़ होता ही है, उसे क्षायोपशमिक लब्धि अर्थात् काललब्धि कहा जाता है।

'जब काल पकेगा, तब मुक्ति होगी, उसमें जीव का पुरुषार्थ काम नहीं आता।'— ऐसा माननेवाले महा अज्ञानी हैं। वे कभी मुक्ति का पुरुषार्थ नहीं कर सकते। काललब्धि अपने पुरुषार्थ अनुसार ही होती है। यदि स्वयं सुलटा पुरुषार्थ करे तो सुलटी ही काललब्धि होती है और उल्टा पुरुषार्थ करे तो उल्टी काललब्धि होती है। कर्म तो भिन्न चीज़ है, वे कहीं आत्मा की काललब्धि नहीं करते। जीव स्वयं अपने पुरुषार्थ से काललब्धि करता है।

प्रश्न—शास्त्र में पाँच समवाय कहे गये हैं न?

उत्तर—पुरुषार्थ, स्वभाव, नियति, काल और कर्म—ये पाँच समवाय कारण कहे जाते हैं, ये पाँचों कारण पुरुषार्थ में एक साथ आ जाते हैं; वह इस प्रकार:—अपने स्वभाव की दृष्टि की और विपरीतदृष्टि टाली, वह पुरुषार्थ—१। उस समय स्वभाव के आश्रय से जो निर्मल दशा प्रगट हुई, वह दशा स्वभाव में थी, वही प्रगट हुई है; इसलिए निर्मल दशा प्रगटी, वह स्वभाव—२। स्वभाव की दृष्टि करनेवाले जीव को स्वभाव में उस समय में जो दशा नियत थी, वही दशा प्रगटी है, यह नियति—३। पहले पर की ओर ढलता था, तब उल्टी दशा थी, अब स्वभावदृष्टि के पुरुषार्थ से जो निर्मलदशा प्रगट हुई, वह स्व-काल—४। जब जीव ने अपने स्वभाव का आश्रय किया, तब कर्म उनकी योग्यता से स्वयं टल गये, यह कर्म—५।

इस प्रकार स्वभाव का पुरुषार्थ करने से ज्ञानी को मोक्ष के पाँचों समवाय कारण एक समय में होते हैं। अज्ञानी को एक समय में उल्टे पाँच समवाय होते हैं। इस प्रकार पुरुषार्थ से निर्मलपर्यायरूप स्वकाल की प्राप्ति, वही काललब्धि है। काल पके और कर्म हटे तो सच्चा समझ में आये—यह अज्ञानी की झूठ बात है। जो जीव स्वयं सच्चा समझने के लिये प्रयत्न करता है, उस जीव को काल पका ही है और कर्म भी हट जाते हैं। कर्म

और विकार से पृथक्, शुद्ध परिपूर्ण आत्मस्वभाव जानकर उसमें जो स्थिर हुआ, उसे मुक्ति का काल न पके, ऐसा बने ही कैसे? और उसे कर्म न टले, ऐसा बने ही कैसे? इसलिए धर्म करनेवाले जीव को, 'कर्म पकेंगे, तब मुक्ति होगी'—ऐसे पर के ऊपर देखना नहीं रहता, परन्तु स्वयं स्वभावदृष्टि का पुरुषार्थ करे, वहाँ पुरुषार्थ अनुसार काललब्धि इत्यादि सब होते ही हैं।

२— **विशुद्धिलब्धि**—उपशमभाव को अर्थात् विशुद्धपरिणाम को उपशमलब्धि अथवा विशुद्धिलब्धि कहते हैं। यह जीव का क्षायोपशमिकभाव है; वह भाव कर्म नहीं कराते, परन्तु जीव के पुरुषार्थ से होते हैं। स्वभाव समझने की जिज्ञासा के समय क्रोधादि कषायें मन्द पड़ जाती हैं, वह विशुद्धिलब्धि है। जो जीव तीव्र कषायभावों में वर्तता है और मन्दकषाय भी नहीं करता, उसे तो धर्म की ओर की जिज्ञासा भी नहीं होती। यह विशुद्धिलब्धि, वह मन्दकषायरूप भाव है, धर्म नहीं।

३— **उपदेशलब्धि**—सत्पुरुष से आत्मस्वभाव की देशना सुनना, उसे देशनालब्धि अथवा उपदेशलब्धि कहा जाता है। सत् समझने के लिये सत्पुरुष की देशना सुनने का भाव, वह अपना वर्तमान पुरुषार्थ है और सत्पुरुष की देशना की प्राप्ति पूर्व के पुण्य के कारण होती है। सत्पुरुष मिले या वाणी मिली, उसमें कोई आत्मा का भाव नहीं है, परन्तु सत् का श्रवण करने की भावना और समझने की रुचि हुई, वह अपना क्षायोपशमिकभाव है। संसार में व्यापार-धन्धे इत्यादि में जो पापभाव है, वह औदयिकभाव है और स्वभाव समझने की तथा सत्समागम का जो भाव, वह क्षायोपशमिकभाव है। श्री आचार्यदेव मात्र वाणी को देशनालब्धि नहीं कहते, परन्तु 'आत्मा ज्ञायकस्वभावरूप, पुण्य-पाप से पृथक्' ऐसा वाणी में से सुनकर वह रुचता है और उसे समझने का वर्तमान प्रयत्न करता है, वह क्षायोपशमिकभाव है और उसे देशनालब्धि कहते हैं।

बाहर में सत् का संयोग मिला, वह पूर्व के पुण्य का फल है और वर्तमान में अशुभराग टालकर सत् का श्रवण करने का तथा समझने का भाव करता है, वह पुण्यभाव का पुरुषार्थ है। 'मैं आत्मा कैसा हूँ? क्या कर सकता हूँ? मेरा शाश्वत् स्वरूप क्या है? और मुझे छोड़नेयोग्य क्या है?'—ऐसा समझने की ओर का विचार करे, वह

पुरुषार्थ से होता है। वर्तमान में सत्समागम न मिले, वह पूर्व के पुण्य की और वर्तमान पात्रता की कचास है। जिस आत्मा को सत् समझने के पुरुषार्थ की तैयारी हो, उस आत्मा को सत्समागम की प्राप्ति हो, ऐसे पुण्य का योग होता ही है। जीव की सत् समझने की तैयारी हो और सत्समागम न हो, ऐसा बनता ही नहीं। नारकी में जहाँ वर्तमान सत्समागम नहीं, वहाँ सत्समागम के पूर्व संस्कार का स्मरण देशनालब्धिरूप से होता है।

जीव स्वयं धर्म का पुरुषार्थ करे तो उसे धर्म होता है। अज्ञानी जीव ऐसा मानता है कि 'कर्म में लिखा होगा तो धर्म होगा! अथवा तो कर्म मार्ग दे, तब धर्म होगा।' परन्तु 'मैं पुरुषार्थ करूँ तो धर्म होगा' ऐसा अज्ञानी नहीं मानता और शरीर ठीक रहना, पैसा इत्यादि आना-जाना इत्यादि बाहर के कर्म पूर्व कर्मानुसार होते हैं। जीव के पुरुषार्थ से उसमें कुछ भी नहीं होता, तथापि अज्ञानी जीव वहाँ अपना पुरुषार्थ मानता है कि अमुक खाने-पीने में ध्यान रखें तो रोग इत्यादि न हो। इस प्रकार अज्ञानी को धर्म की रुचि ही नहीं है, इसलिए वह जीव धर्म में अपना पुरुषार्थ चलता है, उसे न मानकर, कर्म का बहाना लेकर स्वयं धर्म का पुरुषार्थ नहीं करता और पर में तो अपना पुरुषार्थ चलता नहीं, तथापि मिथ्या अभिमान करता है। ज्ञानी-धर्मात्मा तो अपने स्वभाव के आश्रय से धर्म का पुरुषार्थ करता है और परपदार्थों को आत्मा से भिन्न जानकर उनका अहंकार नहीं करता।

यदि जीव स्वयं सच्चा पुरुषार्थ न करे तो उसे कभी धर्म नहीं होता। श्री तीर्थंकर भगवान की धर्मसभा में जाकर दिव्यध्वनि का श्रवण किया, तथापि स्वयं सत्य पुरुषार्थ नहीं किया, इसलिए स्वभाव समझे बिना ऐसा का ऐसा वापस मुड़ गया, इसलिए कहा जाता है कि, 'केवली के निकट कोरा रह गया!'

४— **प्रायोग्यलब्धि**—कर्मों की पूर्व सत्ता घटकर अन्त: कोड़ाकोड़ी सागर रह जाये तथा नवीन बन्ध भी अन्त:कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण के संख्यातवें भागमात्र हो, वह भी लब्धि काल से लेकर क्रमश: घटता ही जाये और कितनी ही पापप्रकृतियों का बन्ध क्रम से मिटता जाये, इत्यादि अवस्था के योग्य जीव के परिणाम हों, उन्हें प्रायोग्यलब्धि कहा जाता है।

५— **करणलब्धि**—यह सूक्ष्म परिणाम है। स्वसन्मुख पुरुषार्थ द्वारा जीव जब तत्त्वविचार में लीन होता है, तब इस लब्धिरूप परिणमन हो जाता है। यह लब्धि होने पर जीव अवश्य सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है।

ये पाँचों लब्धियाँ क्षायोपशमिकभावरूप है, वे जीव का स्वरूप नहीं हैं। तथा क्षायोशमिकसम्यक्त्व, क्षायोपशमिकचारित्र तथा संयमासंयमरूप भाव, वह भी आत्मा का स्वरूप नहीं है। पाँचवें गुणस्थान में संयमासंयमभाव होता है और छठवें से दसवें गुणस्थान तक क्षायोपशमिकचारित्र होता है। क्षायोपशमिकभाव के जो अठारह भंग कहे हैं, वे कोई आत्मा का स्वरूप नहीं है; वह भंग-भेदरूप अवस्था के लक्ष्य से पुण्यभाव का पुरुषार्थ होता है—मन्दकषाय होती है, परन्तु उसके लक्ष्य से धर्म का पुरुषार्थ नहीं होता—अकषायपरिणाम नहीं होते। भंग-भेदरहित, अनन्त गुण से अभेदरूप अविनाशी चैतन्यपिण्ड त्रिकाल शुद्ध है, उसके लक्ष्य से मुक्ति का पुरुषार्थ होता है। अवस्था के लक्ष्य से मात्र अशुभ टालकर शुभपरिणाम होते हैं; पूर्ण स्वभाव में दृष्टि, वही सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और मुक्ति का कारण है।

क्षायोपशमिकभाव के अठारह प्रकारों का वर्णन करके, अब औदयिकभाव के इक्कीस प्रकार बतलाते हैं। नरक-तिर्यंच-मनुष्य-देव, यह चार गति; क्रोध-मान-माया-लोभ, ये चार कषाय; स्त्री-पुरुष-नपुंसक, ये तीन लिंग; सामान्य संग्रहनय की अपेक्षा से एक मिथ्यादर्शन-एक अज्ञान-एक असंयम-एक असिद्धत्व, तथा शुक्ल-पद्म-पीत-कापोत-नील-कृष्ण, यह छह लेश्या—इस प्रकार औदयिकभाव के इक्कीस भेद है।

नारकी-मनुष्य इत्यादि का शरीर तो जड़ है, वह कहीं औदयिकभाव नहीं, परन्तु उस शरीर के निमित्त से जीव के प्रदेशों की रचना तथा 'मैं मनुष्य हूँ' इत्यादि भाव होते हैं, वह औदयिकभाव है। उसी प्रकार स्त्रीलिंग, पुरुषलिंग इत्यादि कहे, वे जड़शरीर नहीं समझना परन्तु आत्मा के उस प्रकार के विकारभाव समझना। मिथ्यादर्शन अज्ञान इत्यादि के सूक्ष्मरूप से तो अनेक प्रकार हैं परन्तु उन सबको मिथ्यादर्शन, अज्ञान इत्यादि में सामान्यरूप से समाहित कर दिया है। यह सामान्य संग्रहनय है; असिद्धत्व अर्थात्

संसारदशा; वह रहे, तब तक औदयिकभाव है। शुक्ल इत्यादि छह लेश्याएँ, वह विकारभाव है। शुक्ललेश्या भी विकारभाव है। जब जब कर्म के उदय में जुड़ता है, तब उसकी उत्पत्ति होती है। जीव के कषायभाव की मन्दता-तीव्रता अनुसार छह प्रकार की लेश्याएँ हैं, वह समझने के लिये दृष्टान्त इस प्रकार है।

छह पुरुषों को आम खाने की इच्छा हुई; वहाँ एक कहता है—पूरे वृक्ष को मूल में से काट डालो। दूसरा—बड़ी डाली काटो। तीसरा—छोटी डाली काटो। चौथा—आम के गुच्छे ही तोड़ लो। पाँचवाँ—मात्र आवश्यकतानुसार पके आम ही तोड़ लो और छठवाँ कहता है कि पककर नीचे खिरे हुए आम ही उठा लो। इन छहों पुरुषों के परिणाम उत्तरोत्तर एक-दूसरे से मन्द है। यद्यपि छहों पुरुषों को आम खाने की इच्छा, वह अशुभपरिणाम है। परन्तु यहाँ मात्र परिणामों की तारतम्यता समझाने के लिये यह दृष्टान्त है। छहों पुरुषों को आम खाने की इच्छा है, परन्तु उस प्रत्येक के परिणाम की स्निग्धता में अन्तर है। उसी प्रकार छह लेश्या के परिणाम में कषाय की तारतम्यता है। शुक्ललेश्या शुभरूप से सबसे ऊँची है और कृष्णलेश्या सबसे बुरी है। शुक्ल-पद्म और पीत ये तीन शुभलेश्यायें हैं और कृष्ण-नील और कापोत, ये तीन अशुभ लेश्यायें हैं। अज्ञानी जीव को भी छहों लेश्यायें हो सकती हैं। शुक्ललेश्या भी धर्म नहीं है क्योंकि वह औदयिकभावरूप है। शुक्लध्यान, वह औपशमिक या क्षायिकभावरूप है, इसलिए वह धर्म है। शुभ या अशुभ सभी लेश्यायें बन्ध का कारण है। यह इक्कीस प्रकार के औदयिकभाव कहे, वह जीव का मूलस्वरूप नहीं है।

यहाँ जो औदयिक-औपशमिक-क्षायोपशमिक और क्षायिक, इन चार भावों के भंग-भेद का वर्णन किया, इसे जानने का प्रयोजन यह है कि—वे सब भाव क्षणिक हैं, कर्म की उपाधिवाले हैं और उन सभी भावरहित जो त्रिकाली एकरूप आत्मस्वभाव है, वह अपना स्वभावभाव है, उसे कोई कर्म की उपाधि नहीं है; वह त्रिकाली स्वभाव क्षणिकभाव जितना नहीं—ऐसा पहिचानकर, पर्यायबुद्धि छोड़कर द्रव्यस्वभाव की ओर ढलना, वह यहाँ प्रयोजन है।

चार भावों के प्रकार वर्णन किये, अब पाँचवें पारिणामिकभाव के तीन भेद इस

प्रकार हैं—जीवत्वपारिणामिक, भव्यत्वपारिणामिक और अभव्यत्वपारिणामिक। इन तीन भावों को किसी कर्म की अपेक्षा नहीं है। पारिणामिकभाव के ये तीन भेद व्यवहारनय का विषय है। जीव के स्वभाव की दृष्टि से देखने पर, भव्य या अभव्य सब जीव त्रिकाल एकरूप परमपारिणामिकस्वभाववाले हैं।

पाँचों भावों के प्रकारों का वर्णन करके अब उसमें से कौन-कौन से भाव किस जीव को होते हैं, यह बतलाते हैं; जीवत्व पारिणामिकभाव को भव्य तथा अभव्य सभी जीवों को एक सरीखा होता है। भव्यत्व पारिणामिकभाव भव्य जीवों को ही होता है और अभव्यत्व पारिणामिकभाव अभव्य जीवों को ही होता है। ये तीनों प्रकार के भाव कर्म की अपेक्षारहित, स्वभाव से ही हैं। बहुत पुण्य करे, वह जीव भव्य और बहुत पाप करे, वह अभव्य—ऐसा नहीं है। पुण्य-पाप तो औदयिकभावरूप है और भव्य-अभव्यपना, वह पारिणामिकभावरूप है; इसलिए भव्य-अभव्यपने को पुण्य-पाप की अपेक्षा नहीं है। कोई जीव भव्य हो और वह क्रूर में क्रूर पाप करे तो इससे वह कहीं अभव्य नहीं हो जाता। और कोई अभव्य जीव बहुत पुण्य करे तो वह कहीं भव्य नहीं हो जाता। जो भव्य जीव हो, वह भव्य ही रहता है और अभव्य हो, वह सदा अभव्य ही रहता है, ऐसा स्वभाव है। जीवत्वस्वभाव भी सब जीवों में है, बहुत पाप करनेवाले आत्मा का जीवत्वस्वभाव कहीं नाश नहीं हो जाता और धर्म करनेवाले जीव को कहीं जीवस्वभाव नया नहीं बनता। जीवत्व पारिणामिकभाव सदा निरपेक्ष एकरूप सब जीवों को है।

जीव का जो त्रिकाली पारिणामिकभाव है, वह कारणपरमात्मा है। उस कारणपरमात्मारूप शुद्ध आत्मा के आश्रय से, सकल कर्मों का क्षय होने से केवलज्ञानादि क्षायिकभाव प्रगट होता है, वह कार्यसमयसार है; यह भाव सम्पूर्ण शुद्ध अवस्थारूप है। वह अवस्था किसे होती है ? यह कहते हैं। तीर्थंकरपने द्वारा तीन लोक को आश्चर्य के कारणभूत और सम्पूर्ण निर्मल केवलज्ञान के स्वामी ऐसे श्री तीर्थंकर अरिहन्तदेव, तथा सामान्य केवली भगवन्त और अशरीरी ऐसे श्री भगवन्तों को क्षायिकभाव होता है। केवलज्ञान-केवलदर्शन क्षायिकसुख इत्यादि छद्मस्थ संसारी जीवों को नहीं होते, परन्तु अरिहन्त और सिद्ध भगवन्तों को ही होते हैं। श्री तीर्थंकर भगवान और सामान्य केवली

भगवान, सबके क्षायिकभाव समान है, परन्तु औदयिकभाव में अन्तर है अर्थात् कि पवित्रता में समानता है परन्तु पुण्य में अन्तर है। श्री तीर्थंकर भगवन्त पवित्रता और पुण्य दोनों में पूरे होते हैं। तीर्थंकर प्रभु के गर्भ-जन्म-दीक्षा-केवलज्ञान और निर्वाण, इन पाँच कल्याणकों के महान उत्सव देव-देवेन्द्र मनाते हैं और उस प्रसंग में तीन लोक में आश्चर्ययुक्त खलबलाहट होती है। ऐसे तीर्थंकर होनेवाले जीव को ही केवलज्ञानादि क्षायिकभाव प्रगट होने के पश्चात् ही तीर्थंकरपना होता है। गृहस्थपने में या छद्मस्थपने में क्षायिकसम्यक्त्व हो सकता है, परन्तु केवलज्ञानरूप क्षायिकभाव किसी जीव को नहीं होता।

बाकी के तीन (१) औदयिक, (२) औपशमिक और (३) क्षायोपशमिकभाव संसारी जीवों को ही होते हैं। मुक्त जीवों को नहीं होते। यह औदयिक आदि भाव विकारी या अपूर्ण हैं, इसलिए वे छद्मस्थ संसारी जीवों को ही होते हैं। केवली भगवान को औपशमिक या क्षायोपशमिकभाव तो होते ही नहीं। और अघातिकर्मों के उदय निमित्त से जो औदयिकभाव है, उसकी मुख्यता नहीं, क्योंकि मोह का अभाव होने से अघातिकर्मों का भी क्षय ही होता है। इसलिए उन्हें क्षायिकभाव की ही मुख्यता है।

अब इन औदयिक आदि भावों में से किसकी भावना करने से मुक्ति होती है, यह आचार्य भगवान बतलाते हैं। पूर्व कथित औदयिक-औपशमिक-क्षायोपशमिक और क्षायिक, ये चार भाव आवरणसहित होने से मुक्ति का कारण नहीं है। त्रिकाली निरूपाधि स्वरूप निरंजन निज परमपारिणामिकभाव की भावना करने से ही मोक्षार्थी जीव पंचम गति को प्राप्त करते हैं, प्राप्त करेंगे और प्राप्त किया है।

यह बात बहुत सरस और मूल प्रयोजनभूत है। 'क्षायिकभाव भी मोक्ष का कारण नहीं है।' यह बात स्वभावदृष्टि की है। यद्यपि क्षायिकभाव स्वयं मुक्तस्वरूप है, परन्तु उस क्षायिकभाव की भावना करने से मुक्ति नहीं होती। त्रिकाल पारिणामिकस्वभाव की भावना में लीन होने से सहज क्षायिकभाव प्रगट होता है। इससे आचार्यदेव कहते हैं कि वह परमपारिणामिकभाव की भावना ही मुक्ति का कारण है। अन्य चार भावों की भावना, वह मुक्ति का कारण नहीं है। 'मैं पुरुषार्थ करूँ, मैं मेरी मुक्तदशा प्रगट करूँ'—

ऐसा विकल्प, वह औदयिकभाव है—विकार है, वह विकार करने से पुरुषार्थ की जागृति नहीं होती, परन्तु पर्याय का लक्ष्य छोड़कर पूर्णस्वभाव के आश्रय से परिणमन करने से मुक्ति होती है। क्षायोपशमिक और औपशमिकभाव भी अपूर्ण दशा है, उसका आश्रय करने में रुके तो शुद्धता नहीं होती और क्षायिकभाव का आश्रय करके रुके तो भी विकार की ही उत्पत्ति होती है। इस अपेक्षा से ये चारों भाव मुक्ति का कारण नहीं है—ऐसा समझना। इन चार भावों का आश्रय छोड़कर, पूर्ण स्वभाव का आश्रय करने से सम्यग्दर्शनादि निर्मल भाव प्रगट होकर मुक्ति होती है, इसलिए वह स्वभाव ही मुक्ति का कारण है और मुमुक्षुओं को उस शुद्ध आत्मस्वभाव का ही आश्रय करनेयोग्य है।

यहाँ औदयिक आदि चारों भावों को 'सावरण' कहा है। यद्यपि क्षायिकभाव में तो वर्तमान कोई आवरण नहीं है, तथापि उसे ही आवरणसहित कहा है, क्योंकि उसमें भी 'पहले आवरण था और वह टला, तब क्षायिकभाव प्रगट हुआ' ऐसी आवरण की अपेक्षा लगती है। आत्मा का जो त्रिकाली पारिणामिकस्वभावभाव है, उसे आवरण की या आवरण के अभाव की अपेक्षा नहीं लगती। पहले आवरण था और फिर टला अथवा तो पहले यह भाव आवरणवाला-अप्रगटरूप था और फिर आवरण टलने पर प्रगट हुआ' —ऐसी अपेक्षा उसे नहीं है। वह सदा सहज ज्ञान-श्रद्धा-शान्ति इत्यादि अनन्त गुणों से एक स्वरूप भरपूर है, ध्रुव-अविनाशीरूप है, त्रिकाल एकरूप रहनेवाला निरंजनभाव है, वह कभी बदलता नहीं, वह उत्पाद-व्ययरूप नहीं, परन्तु ध्रुवस्वरूप है। क्षायिक इत्यादि भाव तो कर्म की अपेक्षावाले होने से अंजनसहित और बदलती अवस्थारूप है, इसलिए उनकी भावना करने से मोक्ष नहीं होता।

जीव का जो पारिणामिकभाव है, वह सहज शुद्धरूप है, उसकी ही भावना करने से पर्याय में औपशमिक-क्षायिक, ऐसे निर्मल भाव प्रगट होते हैं। आत्मा का यह परमपारिणामिकस्वभाव सर्व जीवों को सदृश एकरूप है, उसमें भव्य और अभव्य, ऐसे दो भेद का स्वीकार नहीं; उस स्वभाव के आश्रय से ही सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र होता है। इसलिए वह भाव ही वास्तव में मुक्ति का कारण है।

यहाँ ऐसा नहीं समझना कि 'आत्मा में पर्याय होती ही नहीं, आत्मा का बन्ध-

मोक्षरूप परिणमन होता ही नहीं।' पर्याय तो आत्मा का स्वभाव है और बन्ध-मोक्षरूप भी आत्मा की ही पर्याय होती है, परन्तु यदि पर्याय के लक्ष्य से ही आत्मा परिणमे तो द्रव्य-पर्याय की एकता नहीं होती और विकार की ही उत्पत्ति होती है; इसलिए पर्याय का आश्रय छुड़ाने और द्रव्यस्वभाव का आश्रय कराने के लिये यहाँ आत्मा का त्रिकाली स्वभाव बतलाया है। यदि आत्मा अपने अखण्ड स्वभाव का आश्रय करके परिणमे तो द्रव्य-पर्याय की एकता होती है और निर्मलता की उत्पत्ति होती है। जब स्वभाव का आश्रय करके परिणमे, तब किसी पर्याय का अभाव नहीं हो जाता, परन्तु वह तो द्रव्य में लीन होती है—द्रव्य में अभेद होती है; पर्याय जैसे-जैसे द्रव्य में लीन होती जाती है, वैसे-वैसे शुद्धता बढ़ती जाती है। परन्तु साधक जीव को पर्याय का आश्रय या पर्याय पर दृष्टि नहीं होती; उसे त्रिकाली स्वभाव की ही मुख्यता और उसका ही आश्रय है; पर्याय की गौणता है। आत्मा का त्रिकाली स्वभाव ध्रुव है और बन्ध तथा मोक्ष, ये दोनों क्षणिकपर्यायें हैं। यदि पर्याय जितनी ही आत्मा की प्रतीति करे और ध्रुवस्वभाव की प्रतीति न करे तो जीव को बन्धदशा ही होती है। ध्रुवस्वभाव की श्रद्धा करके उसमें पर्याय को एकाग्र करने से सिद्धदशा प्रगट होती है। सिद्धदशा प्रगट होने पर भव्यत्व पारिणामिकभाव का अन्त आ जाता है। 'भव्यत्व' अर्थात् सिद्ध होने की योग्यता, अब साक्षात् सिद्धदशा प्रगट हो जाने पर 'सिद्ध होने की योग्यता' नहीं रहती।

भव्यपना और अभव्यपना, वह यद्यपि पारिणामिकभाव है, उसमें कोई कर्म की अपेक्षा नहीं है, परन्तु जीव के त्रिकाली स्वभाव को देखने से भव्य और अभव्य, ऐसे दो भेद नहीं हैं। भव्य और अभव्य ऐसे दो भेद को देखने से विकल्प उठते हैं, भेद पड़ते हैं और एकरूप अभेद जीवस्वभाव का आश्रय नहीं होता। निगोद से लेकर सिद्ध तक भव्य या अभव्य प्रत्येक जीव में जो सदा स्थित है, ऐसे अभेदरूप ध्रुव चैतन्यस्वभावमय पारिणामिकभाव की यहाँ बात है। उस पंचम पारिणामिकभाव की भावना करने से ही निकट भव्यजीव पंचम गतिरूप मोक्ष को प्राप्त करते हैं, प्राप्त हुए हैं और प्राप्त होंगे। यहाँ आचार्य भगवान तीनों काल के जीवों के लिये एक ही मोक्ष का उपाय बताते हैं कि अपने पारिणामिकस्वभाव की भावना करना।

आत्मा वस्तु अनन्त गुणों से त्रिकाल अभेदरूप है। उसमें संसार-मोक्षरूप अवस्था का लक्ष्य छोड़कर एकरूप पूर्ण स्वभाव का लक्ष्य करना, वही मोक्ष का कारण है, औदयिक आदि चारों भावों को कर्म की अपेक्षा है और यह अकेला स्वभावभाव निरपेक्ष है।

जैसे छोटी पीपर को घिसने से पहले भी उसमें चौसठ पहरी चरपराहट प्रगट होने की सामर्थ्य थी, उसी प्रकार भगवान आत्मा अभी ही सहज शुद्धस्वभावी पूर्ण सामर्थ्य से भरपूर है, उसका विश्वास करने से ही वह प्रगट होता है, परन्तु यहाँ 'प्रगट होता है' यह नहीं बतलाना। प्रगट होने से पहले ही जो पूर्ण शक्तिस्वभाव है, वह बतलाना है। यदि पूर्णता की शक्ति अभी ही आत्मस्वभाव में न हो तो पूर्णता किसमें से प्रगटेगी? सदा वर्तमान वर्तता जो सहजस्वभावभाव शक्तिरूप से पूरा है, उसमें दृष्टि करके एकाग्र होने से सम्यक्त्व और केवलज्ञानरूप पर्याय प्रगट होती है। चार भाव तो पर्यायरूप है, उनमें ऐसी सामर्थ्य नहीं कि उसमें से दूसरी पर्याय प्रगट हो; इन चार भाव के प्रति दृष्टि से तो जीव को आकुलता भाव ही प्रगट होता है और त्रिकाल निरंजन ऐसे स्वाभाविकभाव की दृष्टि से जीव को वीतरागता और केवलज्ञान प्रगट होता है। इस स्वभाव की भावना कर-करके ही भूतकाल के मुमुक्षु जीव मुक्ति को प्राप्त हुए हैं, भविष्य में मुक्त होनेवाले जीव इसी प्रकार से मुक्त होंगे और अभी भी महाविदेह इत्यादि क्षेत्र में भव्य जीव इसी प्रकार से मुक्त होते हैं।

यहाँ अज्ञानी जीव को अज्ञान टालकर धर्म की शुरुआत कैसे हो और मुक्ति कैसे हो, उसकी बात है। तीनों काल में, अपने महिमावन्त शुद्धात्मस्वभाव की भावना से ही कर्म की शुरुआत होती है और उसकी ही भावना से मुक्ति होती है। शुद्ध आत्मस्वभाव क्या? उसका यहाँ कथन किया है। इस अधिकार में बहुत स्पष्टता से शुद्धात्मा का वर्णन आ गया है। मोक्षार्थी जीव ऐसे शुद्धात्मा की ही भावना करते हैं,—उसका श्रद्धा-ज्ञान करके उसका ही निर्विकल्परूप से अनुभव करते हैं। 'मैं मोक्ष करूँ, मैं पुरुषार्थ करूँ' ऐसे विकल्प को भी छोड़कर, स्वभाव की साथ-साथ भावना में सम्पूर्ण लीन होने से मुक्तदशा हो जाती है।

अब टीकाकार श्री पद्मप्रभमलधारिदेव इस गाथा पर दो कलश कहते हैं। उसमें शुद्ध आत्मा की भावना करने का कहते हैं :—

(आर्या)

अञ्चितपञ्चमगतये पञ्चमभावं स्मरन्ति विद्वान्सः।
सञ्चितपञ्चाचाराः किञ्चनभावप्रपञ्चपरिहीणाः ।।५८।।

दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप और वीर्य इन पाँच आचारों को आचरनेवाले विद्वान लोभ के प्रपंच को शीघ्र छोड़कर पंचम गति (मोक्ष) की प्राप्ति के लिये पंचमभाव-पारिणामिकभाव की ही भावना करते हैं।

दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तप और वीर्य, इन पाँच आचारों के विकल्प का त्याग करके आत्मा के एकरूप पारिणामिकभाव के लक्ष्य से एकाग्र होना, वही मोक्ष का कारण है। मैं मोक्ष करूँ—ऐसे विकल्प उठें, वह भी लोभ का प्रपंच है। मुनिवर उसे छोड़कर आत्मा में लीनता करते हैं; पारिणामिकभाव, वह आत्मा का त्रिकाल निर्मल एकरूप स्वभाव है, उसकी भावना से ही मोक्ष होता है, इसके अतिरिक्त दूसरे की भावना से मोक्ष नहीं होता।

जैसे समुद्र का पानी दस बाँस गहरा हो, उसमें तरंग उठे, वह ऊपर ही है; तरंग में कुछ मलिन तरंग हों और दूसरे निर्मल हों, परन्तु वह निर्मल या मलिन तरंग में पानी का पूरा दल आ नहीं जाता, पानी की सपाटी के ऊपरी भाग में ही वह तरंग है,—यह दृष्टान्त समझना। उसी प्रकार आत्मा अनन्त गुणों का चैतन्यदल है, उसमें बन्ध अवस्था, वह मलिन तरंग है और मोक्ष अवस्था, वह निर्मल तरंग है; त्रिकाली आत्मा उस बन्ध-मोक्ष अवस्था जितना नहीं है। परन्तु बन्ध-मोक्ष की अपेक्षारहित त्रिकाल एकरूप है; वह पारिणामिकभाव है। मुनिवर मोक्ष के लिये उसका ही स्मरण करते हैं। पहले जिसकी पहिचान की हो, उसका स्मरण होता है; इसलिए पहले आत्मा के ऐसे स्वभाव की श्रद्धा और ज्ञान करना चाहिए।

धर्मी जीव देह की किसी क्रिया को या पुण्य-पाप को मोक्ष के कारणरूप से स्मरण नहीं करते; मोक्षमार्ग का या मोक्ष का स्मरण भी मोक्ष का कारण नहीं है। आत्मा

का अकेला परमपारिणामिकभाव है, उसका ही स्मरण और एकाग्रता मोक्ष का कारण है।

जैसे समुद्र में नीचे से ऊपर तक पानी का दल और उसकी सपाटी दोनों एकरूप है, मात्र ऊपर की लहरों में फेरफार होता है; उसी प्रकार यहाँ पानी का दल, वह त्रिकाली गुण-पर्याय का पिण्ड एकरूप द्रव्य समझना और सपाटी, वह कारणशुद्धपर्याय समझना। आत्मा का स्वभाव द्रव्य-गुण से भरा है, और उसमें विकारी या निर्मल पर्याय के भेदरहित कारणशुद्धपर्याय त्रिकाल पड़ी है, वह द्रव्य-गुण और कारणशुद्धपर्याय अभेद है, वह परमपारिणामिकभाव है; सन्तों-मुनिवरों को भी उसका ही स्मरण और उसमें ही एकाग्रता करनेयोग्य है। उसका ज्ञान करने से ही धर्म होता है और उसमें एकाग्रता करने से वीतरागता होती है।

प्रश्न—निर्विकल्प अनुभव के समय भी प्रगट अंशरूप पर्याय का ही अनुभव होता है तो पूर्ण शुद्ध आत्मा का वेदन कैसे होगा?

उत्तर—निर्विकल्प अनुभव के समय पर्याय पर लक्ष्य नहीं होता, परन्तु अभेद वस्तु पर ही लक्ष्य होता है। अभेद वस्तु के लक्ष्य से एकाग्र होने से निर्मल पर्याय प्रगट होती है, इस पर्याय का वेदन होता है परन्तु 'मैं अभेद द्रव्य का लक्ष्य करता हूँ और निर्मल पर्याय प्रगट होती हैं' ऐसा विकल्प वहाँ नहीं होता। भोग वर्तमान पर्याय का है, परन्तु उस वर्तमान पर्याय का लक्ष्य त्रिकाली द्रव्य पर है। त्रिकाली द्रव्य में अभेद हुआ, तब पर्याय निर्मल हुई है। किसी भी जीव को त्रिकाली द्रव्य का भोग—(वेदन) नहीं होता। परन्तु वर्तमान पर्याय का भोग ही होता है। पूरी वस्तु वेदन में नहीं आती, परन्तु निर्विकल्प अनुभव के समय द्रव्य-पर्याय का भेद नहीं! सहज पारिणामिकभाव का ही लक्ष्य है। बाहर में भी परसन्मुख लक्ष्य न करके पर्याय को अन्तरस्वभाव में झुकाया, वहाँ अकेला सामान्यस्वभाव ही लक्ष्य में रहा और सामान्य-विशेष अभेद हुए। वर्तमान प्रवर्तित अवस्था सामान्यस्वभाव की ओर झुककर एकाग्र हुई, वहाँ द्रव्य-पर्याय का भेद नहीं रहा; वर्तमान अवस्था यदि बाहर का या अवस्था का लक्ष्य करे तो द्रव्य-पर्याय का भेद पड़ता है। बाहर का और अवस्था का लक्ष्य छोड़कर आत्मस्वभाव-सन्मुख अवस्था ढलती है, उसमें सामान्य-विशेष की अर्थात् द्रव्य-पर्याय की एकता होती है, उसमें भेद या विकल्प नहीं है।

आत्मा की वर्तमान पर्याय को कहाँ एकाग्र करने से मुक्ति होगी, उसकी यह बात चलती है। जीव स्वयं कौन? और अपना शाश्वत् स्वरूप क्या?—धर्म करनेवाला कौन? और क्या करने से धर्म होता है, यह जाने बिना धर्म कैसा? और व्रत, उपवास किसका?

आत्मा के सामान्य एकरूप स्वरूप के लक्ष्य से धर्म होता है; सामान्य एकरूप स्वभाव सदा परिपूर्ण है, उसमें कोई भेद नहीं; अल्पदशा प्रगट है और पूर्ण दशा प्रगट होगी, ऐसा भेद उसमें नहीं है। तथा उसमें विकार भरा नहीं है, विकार तो परलक्ष्य से पर्याय की योग्यता से एक समयमात्र का होता है। जैसे अँगुली के छोर में नख बढ़ते हैं, वह नख कहीं ठेठ अँगुली में बढ़ा नहीं है, परन्तु अँगुली के ऊपरी भाग में ही नख होता है; उसी प्रकार विकारी भाव आत्मा के स्वभाव में भरे नहीं हैं। परन्तु एक-एक समय के पर्याय में परलक्ष्य से नये होते हैं; आत्मा के त्रिकाली स्वरूप में विकार नहीं। उस त्रिकाली स्वरूप को पहिचानकर उसमें एकाग्र होने से विकार टलकर मुक्तदशा प्रगट होती है।

आत्मा वस्तु त्रिकाल है। 'त्रिकाल' कहने से तीन काल इकट्ठे होकर आत्मा की पूर्णता होती है—ऐसा नहीं समझना। वर्तमान एक-एक समय में भी वह त्रिकाली सामर्थ्य से पूरा है। आत्मा भूतकाल में या भविष्यकाल में नहीं वर्तता परन्तु वर्तमान ही रहता है। वर्तमान एक अवस्था प्रगट है और उसके अतिरिक्त पूरा द्रव्य भी वर्तमान ही पड़ा है। आत्मा को जब देखो, तब वह वर्तमान में ही है। भूत या भविष्यरूप से आत्मा रहा नहीं। कोई भी द्रव्य भूत या भविष्य में रहता नहीं,—तो द्रव्य का त्रिकालपना किस प्रकार है?—कि जो वर्तमान में है, वही द्रव्य भूतकाल में था और भविष्यकाल में भी रहेगा, इस प्रकार वर्तमान में त्रिकाल का सामर्थ्य है। परन्तु द्रव्य को जब देखो, तब वर्तमानरूप ही वर्तता है। सदा चालू वर्तमान कालरूप से ही वस्तु में वर्तता है। आत्मा गत काल का ज्ञान अभी करे परन्तु इससे कहीं 'मैं अभी गत काल में वर्तता हूँ' ऐसा नहीं है तथा भविष्यकाल का ज्ञान करे, वहाँ कोई आत्मा भविष्यकाल में वर्तता नहीं। 'मैं वर्तमान वर्तता त्रिकाल हूँ'—ऐसे वर्तमान में रहकर ही त्रिकाल का ज्ञान करता है। भूतकाल में वर्तता था, तब भी वह वर्तमानरूप वर्तता था और जब भविष्यकाल आयेगा,

तब वही वर्तमानरूप हो जायेगा। इस प्रकार वर्तमान में आत्मा का परिपूर्ण स्वभाव है। उसे लक्ष्य में लेने के लिये लम्बे-लम्बे काल पर देखना नहीं पड़ता परन्तु वर्तमान पर्याय को अन्तर में झुकाने से परिपूर्ण स्वभाव लक्ष्य में आता है। वर्तमान वर्तती अवस्था का वर्तमान वर्तते ध्रुवस्वभाव में झुकाव करना, वह शुद्धता का कारण है। मुनिवर ऐसे ध्रुवरूप परमपारिणामिकस्वभाव की भावना से मोक्ष पाते हैं। प्रत्येक मोक्षार्थी जीवों को इस स्वभाव की पहिचान करके उसी में एकाग्रता करना योग्य है, वही मोक्ष का उपाय है।

अब शुद्धात्मा की भावना में कोई दोष नहीं, इसलिए उसकी ही भावना करने का दूसरे कलश में कहते हैं:—

(मालिनी)

सुकृत-मपि समस्तं भोगिनां भोगमूलं
त्यजतु परम-तत्त्वाभ्यास-निष्णातचित्तः।
उभय-समय-सारं सार-तत्त्व-स्वरूपं,
भजतु भवविमुक्त्यै कोऽत्र दोषो मुनीशः ।।५९।।

परमतत्त्व के अभ्यास में निष्णात चित्तवाले और उभयसमयसाररूप ऐसे हे मुनीश! समस्त प्रकार के शुभकर्म भी भोगी जीवों के भोग का मूल है, ऐसा समझकर उसे छोड़ो और भव से विमुक्ति के लिये सारभूत तत्त्वस्वरूप इस शुद्धात्मा का भजन करो। उसमें क्या दोष है ? अर्थात् उसमें कोई दोष नहीं है, वही निर्दोष कार्य है।

धर्मात्मा अपने स्वभाव की भावना करता है और सर्व पुण्य के विकल्प को कामी जीवों के भोग का मूल जानकर छोड़ देता है। वे पुण्य को हित का कारण नहीं मानते। मुनि को भी अभी अस्थिरता के कारण पुण्यभाव हो जाता है, परन्तु मुनि उसे छोड़ते हैं; अज्ञानी जीव पुण्य के फल में सुख मानकर उसका आदर करते हैं। धर्मी को पुण्य के विकल्प उठते हैं, परन्तु उसका फल संसार के भोगी जीवों के लिये है, योगी तो उसे छोड़ देता है और तत्त्वस्वरूप के साररूप अपने परमसमयसार को ही मुक्ति का कारण समझकर उसका अवलम्बन करता है। मुनियों का चित्त परम आत्मतत्त्व के अभ्यास में ही निष्णात है; पुण्यभाव तो आत्मा की शान्ति को विघ्न करनेवाला है, उसका आदर

मुक्ति की अभिलाषावाले को नहीं हो सकता। बन्धन से छुटकारा करके मुक्तदशा प्रगट करने के लिये आत्मा स्वयं अपने स्वभाव का ही भजन करता है। आत्मस्वभाव की श्रद्धा, ज्ञान, स्थिरता करना, वह भगवान आत्मा का भजन है; अपने गुणस्वरूप परमात्मा का भजन करने से ही आत्मा मुक्ति पाता है; उसमें निर्दोषता ही है, शुभराग तो स्वयं दोष है, उससे आत्मा की मुक्ति नहीं होती। जैसे मनुष्यों ने विसर्जित की हुई विष्टा को ढूंढ जैसे पशु खाते हैं, उसी प्रकार ज्ञानियों ने जिस पुण्यभाव को विकारी जानकर छोड़ दिया है, उस पुण्य को अज्ञानी जीव सुख का साधन मानकर अंगीकार करते हैं, और उसकी भावना करके संसार में भटकते हैं; ज्ञानी तो पुण्य की भावना छोड़कर आत्मस्वभाव की भावना द्वारा मुक्त-परमात्मा होते हैं।

यहाँ मुनि को सम्बोधन करके टीकाकार कहते हैं कि हे मुनि! तू शुद्ध आत्मा का भजन कर और पुण्यकर्म को छोड़। मुनियों का चित्त परमतत्त्व के अभ्यास में ही लीन है। पंच महाव्रतादि के शुभराग हों परन्तु उस राग के अभ्यास में मुनि का चित्त एकाग्र नहीं है। शुभकर्म को भी मुनिवर हेय समझते हैं और अपने शुद्ध आत्मा की ही भावना करते हैं। सर्व तत्त्व का सार शुद्ध आत्मा ही है। जिसे आत्मा की सुखदशा चाहिए हो, उसे शुद्ध आत्मस्वरूप को पहिचानकर उसकी ही भावना करनी चाहिए; वही मुक्ति का उपाय है। इसके अतिरिक्त दूसरे प्रकार से मोक्ष का उपाय प्रगट नहीं होता, इसलिए मुमुक्षु जीवों को स्वरूप-भावना ही कर्तव्य है।

इस नियमसार में आत्मा के पारिणामिकस्वभाव का बहुत अद्भुत वर्णन आचार्य भगवान ने किया है। समयसार में भी गाथा ५० से ५५ में २९ बोल इत्यादि द्वारा आत्मा के पवित्र पारिणामिकस्वभावभाव का ही वर्णन है। यहाँ उस स्वभाव का विशेष स्पष्ट वर्णन किया है। श्री टीकाकार मुनिराज कहते हैं कि आत्मा के सहज स्वभाव को पहिचानकर उसका ही ध्यान कर! जितने कर्म की अपेक्षावाले भाव हैं, उन सबको छोड़कर अकेले स्वभावभाव का लक्ष्य करके उस सहजस्वरूप की भावना ही मोक्षार्थी को करना चाहिए। मुनिवर शुभपुण्य को भी हेय समझकर तत्त्वस्वरूप के सारभूत शुद्धस्वरूप की भावना में लवलीन रहते हैं, यही भावना शुद्ध आत्मस्वरूप प्रगट करने

के लिये साक्षात् कारण है। इसलिए मोक्षपद के इच्छुक जीवों को अपने शुद्धस्वरूप की भावना ही कर्तव्य है।

इस प्रकार इस गाथा में आत्मा के पारिणामिकभाव का वर्णन किया और उसी की भावना करने से मोक्ष होता है, इसलिए मुमुक्षुओं को उसी की भावना करने का बतलाया।

यहाँ ४१वीं गाथा पूरी हुई।

★★★★★

व्याख्यान नं. ३१, वीर संवत् २४७०, ज्येष्ठ कृष्ण १४, रविवार

(गाथा ४२)

यह शुद्धभाव अधिकार है। आत्मा के त्रिकाल शुद्धस्वभाव का इसमें वर्णन है। आत्मा का त्रिकाली शुद्धस्वरूप और उससे विरुद्ध विकारभाव, इन दोनों का स्वरूप पहिचाने तो शुद्धस्वरूप की भावना करके विकार का नाश करे। जीवों ने अनादि से अपने मूलस्वरूप को जाना नहीं और क्षणिक विकार को ही अपना स्वरूप मानकर उसकी भावना की है, इसलिए वे संसार में भटकते हैं; आत्मा का मूलस्वरूप सर्व विकार से रहित शुद्ध है, उसे पहिचानकर उसकी भावना करे तो मुक्ति होती है, इसलिए यहाँ आचार्य महाराज, भगवान आत्मा के शुद्धस्वरूप का वर्णन करते हैं। ४१वीं गाथा पूरी हुई है, अब ४२वीं गाथा शुरु होती है।

शुद्धनिश्चयनय से शुद्ध जीव को समस्त संसार विकार नहीं है—ऐसा कहते हैं:—

चउगइभवसंभमणं जाइजरामरणरोगसोगा य।
कुलजोणिजीवमग्गणठाणा जीवस्स णो संति।।४२।।

चतुर्गतिभवसम्भ्रमणं जातिजरामरणरोगशोकाश्च।
कुलयोनिजीवमार्गणस्थानानि जीवस्य नो सन्ति।।४२।।

चतु-गति भ्रमण नहिं, जन्म-मृत्यु न, रोग, शोक, जरा नहीं।
कुल योनि नहिं, नहिं जीवस्थान, रु मार्गणा के स्थान नहिं॥४२॥

अर्थः—इस शुद्ध जीवतत्त्व को चार गति के भव में भ्रमण नहीं है, जन्म-जरा-मरण-रोग या शोक नहीं है तथा जो कुल-योनि, जीवसमास या मार्गणास्थान नहीं है।

आत्मा का असली स्वभाव शुद्ध वीतरागस्वरूप पर से निराला है। त्रिकाल न बदले, ऐसा आत्मा का असली स्वरूप विकार और भवभ्रमणरहित है। और नरकादि चार गति तथा उसके कारणरूप विकार, वह नकली भाव है। आत्मा के असल स्वरूप में वे नहीं हैं। आत्मा के असली स्वरूप को जाने बिना नकली स्वरूप का नाश नहीं

होता। आत्मा का असली स्वरूप शुद्ध परिपूर्ण है, उसे पहिचानकर उसके अनुभव में एकाग्र होने से नकली भावों का नाश हो जाता है। आत्मा का असली स्वरूप कभी नष्ट नहीं होता; पर्यायदृष्टि से देखने पर विकार है, परन्तु आत्मा का असली स्वरूप विकारी नहीं हो गया, वह तो सदा एकरूप—ऐसा का ऐसा है। जैसे कोई खानदानी मनुष्य हो, वह निर्धन हो जाये, तो भी अपनी खानदानी नहीं छोड़ता, विवाह में पुत्री के पैसे नहीं लेता, सधन या निर्धन किसी अवस्था में उसकी खानदानी में अन्तर नहीं पड़ता; उसी प्रकार आत्मा का असली-खानदान स्वभाव है, वह सदा एक सरीखा है। सिद्ध और संसारी सभी जीवों का स्वभाव समान है। संसारी जीव को पर्याय में क्षणिक विकार है, परन्तु पूरा स्वभाव उस विकाररूप नहीं हो गया। अज्ञानी अपने असली स्वरूप को भूलकर विकार को तथा चार गतियों को अपना स्वरूप मानता है, इसलिए वह चार गति में भ्रमण करता है; वह चार गति या विकार आत्मा का असली स्वरूप नहीं है परन्तु बनावटी है, क्षणिक विकार नया खड़ा किया है। आत्मा के असली स्वभाव को जाने बिना वे क्षणिक नकली भाव टलते नहीं और भवभ्रमण मिटता नहीं। इस गाथा में आत्मा के असली स्वभाव का वर्णन है।

टीका

'इस गाथा में शुद्धनिश्चयनय की अपेक्षा से कथन है कि इस शुद्ध जीव को समस्त संसार का विकार नहीं है। यह शुद्ध जीवास्तिकाय तत्त्व द्रव्यकर्म तथा भावकर्म से रहित होने से, नरक-तिर्यंच-मनुष्य और देव, ऐसे लक्षण से चार गति में उसे परिभ्रमण नहीं है। और नित्य शुद्ध चिदानन्दस्वरूप कारणपरमात्मस्वरूप जीव है, उसे द्रव्यकर्म और भावकर्म के ग्रहणयोग्य विभाव परिणति का अभाव होने से जन्म-जरा-मरण, रोग या शोक नहीं है तथा चार गति के जीवसम्बन्धी कुल तथा योनि के प्रकार भी उसे नहीं है; और चौदह प्रकार के जीवस्थान या मार्गणास्थान भी उसे नहीं है—इस प्रकार, शुद्धनिश्चय के बल से, यह सब उस भगवान परमात्मा को (शुद्ध आत्मा को) नहीं है—ऐसा भगवान सूत्रकर्ता का अभिप्राय है।

लोग कहते हैं कि वट के वृक्ष तो सूखते नहीं परन्तु 'छाजा का छोड़' तो सूख जाता है। क्योंकि उसके मूल जमीन में गहरे गये नहीं। उसी प्रकार आत्मा का ज्ञानमूर्ति

असली स्वभाव है, वह बड़ के वृक्ष जैसा है, वह कभी खिसकता नहीं। सदा ध्रुव एकरूप है और पुण्य-पाप के विकार तथा चार गति के भाव तो क्षण-क्षण में नाश हो जाते हैं। क्योंकि विकार के मूल आत्मा में गहरे उतरे नहीं हैं, वह विकार आत्मा के स्वभाव में घुस नहीं गया, और आत्मा के स्वभाव में से उसकी उत्पत्ति नहीं हुई, इसलिए वह विकार तो छाजा का छोड़ जैसा है। यह पहले क्षण में होता है और दूसरे क्षण में नाश पाता है। इसलिए आचार्य भगवान कहते हैं कि हे भाई! तेरा शाश्वत् रहनेवाला स्वभाव क्या है, वह समझ; तेरे असली स्वभाव को सम्हाल। यह विकार तो क्षणिक है, यह क्षणिक विकार तेरे त्रिकाली स्वभाव में नहीं है। तथापि क्षणिक विकार को तू अपना स्वरूप मानता है, इसलिए भवभ्रमण होता है। आत्मा के स्वभाव में भव नहीं और भव का कारण (-विकार) भी उसमें नहीं। ऐसे स्वभाव को पहिचान, तो तेरा भवभ्रमण टल जायेगा। आत्मा की सिद्धदशा होती है, वह बाहर से नहीं आती, परन्तु आत्मा में अनन्त गुण भरे हैं, उसमें से ही प्रगट होती है। जितने गुण सिद्ध भगवान के आत्मा में हैं, उतने ही गुण प्रत्येक आत्मा में सदा हैं। और जैसे सिद्ध को विकार नहीं, उसी प्रकार किसी जीव के स्वरूप में विकार नहीं। एक समयमात्र की अवस्था में रागादि विकार होता है, वह यहाँ गौण है। यहाँ शुद्ध दृष्टि से (अर्थात् कि वास्तविक दृष्टि से-स्वभावदृष्टि से-निश्चयनय से) आत्मस्वरूप का वर्णन है; ऐसे शुद्ध आत्मा को जानने से ही धर्म होता है।

भगवान शुद्ध आत्मा में विकार है ही नहीं, अवस्था में एक समयमात्र का विकार है, वह ऊपर-ऊपर का है; अन्तर के त्रिकाल द्रव्य-गुणस्वरूप में विकार नहीं है। अज्ञानी जीव आत्मा के मूल शुद्धस्वरूप को नहीं जानते और क्षणिक अवस्था में पुण्य-पापभाव हों, उतना ही आत्मा मान लेते हैं, परन्तु वह विकार तो उत्पन्नध्वंसी क्षणिक है, इतना आत्मा नहीं। आत्मतत्त्व का जो कायमी स्वभाव है, उसमें विकार नहीं, वह उपजता-विनशता नहीं; शुद्ध ज्ञानादि गुणों से परिपूर्ण सदा ऐसा का ऐसा अन्तरस्वभाव है, वह चौरासी लाख योनि में भवभ्रमण का कारण नहीं। उसकी श्रद्धा, ज्ञान और स्थिरता करे तो भवभ्रमण टलकर मुक्तदशा प्रगट होती है।

यह शुद्ध जीव का निर्मल स्वरूप त्रिकाल है, उसमें क्षण का विकार या मनुष्य,

देव इत्यादि चार गति नहीं; ऐसे स्वरूप की दृष्टि बिना पर्याय में से क्षणिक विकार का या भवभ्रमण का नाश नहीं हो सकता।

पर्याय के विकार जितना अपने को माने तो वह विकार का नाश किसके जोर से करेगा? यदि आत्मा का पूरा स्वरूप ही विकार हो गया हो तो दूसरे क्षण में विकार टलकर शुद्धता कहाँ से आयेगी? विकारी पर्याय के समय भी आत्मा का स्वरूप विकारी हो नहीं गया, परन्तु शुद्ध है, इसीलिए उस स्वरूप की श्रद्धा-ज्ञान-रमणता के जोर से विकार टलकर शुद्धता प्रगट होती है। परन्तु जो जीव अपने को विकारी ही मानता है, उसे कभी विकार टलता नहीं और शुद्धता प्रगटती नहीं। आत्मा ज्ञायकस्वरूप अनन्त गुण का पिण्ड अरूपी वस्तु है। क्षणिक पर्यायदृष्टि से देखने पर पुण्य-पाप-दया-हिंसादि भाव आत्मा में दिखते हैं, परन्तु आत्मा के त्रिकाल स्वभाव की दृष्टि से देखने पर वे कोई विकारीभाव आत्मा में है ही नहीं। ऐसी त्रिकाल स्वभाव की दृष्टि, वही सम्यग्दृष्टि है और वही धर्म है।

जिसे आत्मा की मुक्ति करना हो अर्थात् कि धर्म करना हो, उसे आत्मा को कैसा जानना चाहिए? उसकी यह बात है। आत्मा को पूरे स्वरूप से माने तो धर्म होता है, परन्तु अधूरे या विकारी स्वरूप से माने तो धर्म नहीं होता; इसलिए आचार्यदेव कहते हैं कि शुद्ध आत्मा में द्रव्यकर्म या भावकर्म नहीं है, इसलिए उसके फलरूप देव-मनुष्य-नरक या तिर्यंच ऐसी चार गति में आत्मा को भ्रमण नहीं है।

अज्ञानी मानता है कि 'मैं मनुष्य हूँ, मैं देव हूँ' ऐसा उस आत्मा को चार गतिरूप मानता है, परन्तु आत्मा तो अनादि-अनन्त है और चार गति तो क्षणिक है; मनुष्यपने के सौ वर्ष इत्यादि आयु जितना आत्मा नहीं है, देवगति भी नाशवान है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं। अज्ञान और पुण्य-पाप, वह भावकर्म है, उसके निमित्त से द्रव्यकर्म बँधता है और जीव चार गति में भटकता है, परन्तु जीव के स्वभाव में वह भावकर्म या द्रव्यकर्म नहीं है, इसलिए स्वभावदृष्टि से जीव को चार गति में भ्रमण नहीं है।

चौबीस तीर्थंकर भगवान की स्तुति में आता है कि '**विहुयरयमला**' (विहुयरजमला)।

अर्थात् कि रज और मल जिन्होंने धो डाले हैं, ऐसे तीर्थंकरों का मैं स्तवन करता हूँ। इसमें रज, वह द्रव्यकर्म है और मल, वह भावकर्म है; रज तो रूपी रजकण हैं और मल, वह आत्मा का अरूपी विकारी भाव है। पूजा-भक्ति-दया-दानादि-पुण्य या हिंसादि पाप वे सब भाव मल हैं। भगवान ने शुद्ध आत्मा की पहिचान और उसमें स्थिरता करके भावकर्मरूपी मैल को धो डाला है और भावकर्म के टलने से द्रव्यकर्म भी टल गये हैं; इस प्रकार भगवान 'विहुयरयमला' है। द्रव्यकर्म और भावकर्म आत्मा के स्वरूप में नहीं थे, इसलिए वे टल गये।

यहाँ आचार्यदेव आत्मा के शुद्धस्वभाव की पहिचान कराते हैं। इस आत्मा की अवस्था में पुण्य-पाप-मोहरूपी मल—मैल है, वह उसका स्वभाव नहीं, त्रिकाली स्वरूप पवित्र है, उसमें मैल नहीं; उसके स्वभाव की दृष्टि में धर्मी जीव पुण्य-पाप को अपने में जरा भी स्पर्श नहीं करने देता। उसे शुद्धस्वरूप का ही आदर है, पुण्य-पाप का जरा भी आदर नहीं, क्योंकि आत्मा के स्वभाव में पुण्य-पाप नहीं है। ऐसे स्वभाव की पहिचान बिना किसी प्रकार से अधर्म नहीं टलता और धर्म नहीं होता। अभी सत्-असत् की परीक्षा भी न करे और बाहर के क्रियाकाण्ड में ही रुक जाये, उसे तत्त्व का स्वरूप कहाँ से समझ में आये? और तत्त्व का स्वरूप समझे बिना भव का अन्त कहाँ से आये?

आत्मा के स्वभाव में भव और भव का कारण है ही नहीं, इसीलिए वास्तव में आत्मा भव में भ्रमण नहीं करता, क्योंकि अवस्था में जो अज्ञान और राग-द्वेषादि भाव होते हैं, उनके कार्यरूप भव मिलता है, परन्तु उन अज्ञान और राग-द्वेष भावों की एक समय की हालत आत्मा के त्रिकाल स्वरूप में नहीं है, इसलिए उसके कार्यरूप चार गति के भव भी आत्मा में नहीं है। इसलिए 'मैं मनुष्य, मैं देव' इत्यादि एक-एक गति जितना विकारी तथा कर्म-नोकर्मवाला अपना स्वभाव नहीं मानकर, उन गति इत्यादि से रहित अनादि-अनन्त धारावाही एकरूप परमात्मस्वरूप को लक्ष्य में लेकर आत्मा की प्रतीति करना, वह अपूर्व सम्यग्दर्शन है और वह मोक्ष का कारण है।

पूजा-भक्ति-दया-दानादि विशेष पुण्यभाव के फल में जीव देवगति में जाता है, वह पुण्यभाव या देवगति जीव का मूलस्वरूप नहीं है; हिंसा-चोरी शिकार-माँसभक्षण इत्यादि तीव्र पापभाव के फल में जीव नरकगति में जाता है, वह पापभाव या नरकगति

भी जीव का त्रिकाली स्वरूप नहीं है; पुण्य-पाप दोनों मध्यम होने पर जीव मनुष्यगति में आता है। वह भी जीव का स्वरूप नहीं है और एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय ढोर तक तिर्यंचगति है। यथार्थ तत्त्व के विरोध का फल एकेन्द्रिय निगोदगति है; तत्त्व का विरोध कुटिलता इत्यादि के कारण से जीव तिर्यंचगति में जाता है, वह भी जीव का स्वरूप नहीं है। इस प्रकार चार गति और उसके कारणरूप विकारभाव आत्मा के त्रिकाली मूल स्वभाव में नहीं है, वे सब भाव क्षणिक उपाधिरूप नकली है, आत्मा ज्ञान-आनन्द का कन्द त्रिकाल टिकनेवाला है, वही उसका असली स्वरूप है। पर के सम्बन्ध की दृष्टि से देखने पर वह गति आदि भाव आत्मा में दिखते हैं, वह भी दृष्टि मिथ्या है। आत्मा के असली स्वभाव की दृष्टि से वे कोई भाव आत्मा में है ही नहीं। ऐसी स्वभावदृष्टि, वही सम्यग्दृष्टि है।

चार गति में भ्रमण और उसके कारणरूप द्रव्यकर्म-भावकर्म को आत्मा अपने स्वरूप में स्वीकार नहीं करता; आत्मा अपने ज्ञानादि अनन्त गुणों और उसमें से बहती निर्मल परिणति को स्वीकार करता है परन्तु विकार को अपने स्वरूप में स्वीकार नहीं करता। आत्मा परिपूर्ण निर्मल अनन्त गुण के साथ कायम एकरूप रहता है। गति और विकारभाव क्षणमात्र के हैं, वे आत्मा में कायम नहीं रहते परन्तु टल जाते हैं, इसलिए वे आत्मा का स्वरूप नहीं है।

यहाँ, स्वभावदृष्टि से तो चार गति और उसके कारणरूप विकारभाव जीव में होता है, वह कहीं सर्वथा अभावरूप नहीं है; अवस्था में है, इतना स्वीकार कर द्रव्यदृष्टि से उसका निषेध किया जाता है। यदि अवस्था में भी सर्वथा विकार न हो तो यह बात समझाते किसे हैं ? जिसे अवस्था में दोष है-भवभ्रमण है, उसे यह दोष और भवभ्रमण कैसे टले, उसकी यह बात है। अवस्था में जो दोष है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। क्षणिक अवस्था को लक्ष्य में न लेकर आत्मा के मूलस्वभाव को देखो तो वह शुद्ध एकरूप विकाररहित अनन्त गुण का पिण्ड साररूप तत्त्व है, चार गति सम्बन्धी कोई भाव उसमें नहीं है। यदि उसमें हो तो कभी उनका नाश नहीं हो सकता। ऐसे मूल स्वभाव को न माने और विकार जितना ही अपने को माने तो सच्ची श्रद्धा नहीं होती; इसलिए यहाँ आत्मा के मूलस्वभाव का वर्णन है; उसकी पहिचान और श्रद्धा से

सम्यग्दर्शन-ज्ञान होते हैं।

यह बात आत्मा के स्वभाव की है, बालक या वृद्ध प्रत्येक को यह समझनेयोग्य है, छोटी-छोटी बहिनों-लड़कियों को भी समझ में आये ऐसी है। 'मैं वृद्ध, मैं बालक, मैं पुरुष, मैं स्त्री' ऐसी देहवृत्ति छोड़कर 'मैं आत्मा शरीर से भिन्न, ज्ञानस्वरूप हूँ, सिद्ध परमात्मा जैसा ही मेरा आत्मा है', ऐसी अन्तर्दृष्टि करके समझना चाहिए। यह समझने से ही आत्मा का हित है।

अब जीव का स्वरूप कैसा है, उसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि जीव को जन्म-मरण इत्यादि नहीं; 'और नित्य शुद्ध चिदानन्दस्वरूप कारणपरमात्मस्वरूप जीव है, उसे द्रव्यकर्म और भावकर्म के ग्रहणयोग्य विभाव परिणति का अभाव होने से जन्म-जरा-मरण-रोग या शोक नहीं है; आत्मा का स्वभाव नित्य शुद्ध चिदानन्दस्वरूप है; चार गति अनित्य है, उनका कारण अशुद्धभाव है और उस भाव में आकुलता है, उन तीनों का आत्मा के स्वभाव में अभाव है। अनित्य के सामने नित्य, अशुद्धता के सामने शुद्ध और आकुलता के सामने चिदानन्द लिया है। आत्मा नित्य शुद्ध चिदानन्दस्वरूप कारणपरमात्मा है।

कार्यपरमात्मा-कारणपरमात्मा

कारणपरमात्मा अर्थात् क्या? आत्मा में अनन्त ज्ञान-अनन्त दर्शन-अनन्त वीर्य और अनन्त सुखरूप जो स्वचतुष्टय दशा प्रगट होती है, वह कार्यपरमात्मा है और उस प्रगट होने के कारणरूप स्वभावशक्ति आत्मा में त्रिकाल पड़ी है, उसे कारणपरमात्मा कहा जाता है; वही आत्मा का त्रिकाली स्वरूप है, उसी के आश्रय से परमात्मदशा प्रगट होती है, इसलिए वह परमात्मदशा का कारण है। अरिहन्त तथा सिद्ध भगवान को जो परमात्मदशा प्रगटी, वह भोगवटारूप है—कार्यरूप है, वे प्रगटरूप से भगवान हुए हैं—उनका नाम कार्यपरमात्मा है। वह दशा प्रगट होने के पहले भी उनके आत्मा में भगवान होने की शक्ति थी, उसे कारणपरमात्मा कहा जाता है। ऐसी शक्ति सभी आत्माओं में त्रिकाल है, सभी आत्मा कारणपरमात्मा हैं अर्थात् कि शक्तिरूप भगवान हैं। उसका विश्वास करके, उसमें एकाग्र होने से अवस्था में परमात्मपना प्रगट होता है। यहाँ उस अवस्था की बात नहीं परन्तु त्रिकाली स्वभाव की बात है, त्रिकाल शुद्ध चिदानन्दस्वरूप

कारणपरमात्मस्वभाव को भी यहाँ आत्मा कहा है, ऐसे आत्मा को जानकर-मानकर उसमें स्थिर होने से आत्मा स्वयं परमात्मा होता है—सिद्ध होता है—यह सिद्ध होने का उपाय कहा।

पहले कहा कि शुद्ध आत्मा को चार गति का और उसके कारणरूप द्रव्यकर्म -भावकर्म का अभाव है। यहाँ कहते हैं कि शुद्ध आत्मा को जन्म-जरा-मरण-शोक-भय नहीं, उनके कारणरूप द्रव्यकर्म या भावकर्म के ग्रहणयोग्य विभावपरिणति नहीं। आत्मा सहज शुद्ध चिदानन्द कारणपरमात्मा है, उसके स्वभाव में विभाव का स्वीकार ही नहीं, अवस्था में एक समय के विभाव की योग्यता है परन्तु स्वभावदृष्टि से तो आत्मा में एक समय के विभाव की योग्यता भी नहीं है; इस प्रकार आत्मा को विभावपरिणति ही नहीं है, इसलिए उसे भावकर्म या द्रव्यकर्म नहीं है और भावकर्म या द्रव्यकर्म नहीं होने से आत्मा को जन्म नहीं है, वृद्धता नहीं है, मरण नहीं है, रोग नहीं है, शोक नहीं है। जन्म-मरण इत्यादि का कारण विभावपरिणति है, उसका आत्मा के स्वभाव में अभाव है—ऐसा यहाँ पर्यायदृष्टि गौण करके स्वभावदृष्टि बतायी है। स्वभावदृष्टि का जोर आये बिना धर्म नहीं होता। एक समय की विभावपरिणति का स्वीकार पर्यायदृष्टि में है, उस पर्यायदृष्टि का जोर देने से कहीं धर्म नहीं होता। अखण्ड शुद्ध स्वभाव की दृष्टि का जोर आये बिना पर्याय गौण नहीं होती और इसके बिना धर्म नहीं होता। मेरा चैतन्यस्वभाव अखण्ड है, एक समय के विभाव से मेरा स्वभाव खण्डित नहीं, मेरा त्रिकाली निर्मल स्वभाव एक समय के विभाव से भिन्न है—ऐसी स्वभावदृष्टि के जोर से स्थिरता करने से निर्मल पर्याय प्रगट होती है।

अन्तर में चैतन्यरस का कन्द आत्मस्वभाव शुद्ध है, उसमें विभावपरिणति का अभाव होने से राग-द्वेषादि का भी ग्रहण नहीं। तो फिर उसे जड़शरीर का ग्रहण कैसा? और जन्म-मरण रोग कैसे? जड़शरीर में रोग हो, वहाँ अज्ञानी उसके कारण से दु:ख मानता है और जड़शरीर का वियोग होने पर आत्मा का मरण मानता है। परन्तु आचार्य प्रभु कहते हैं कि आत्मा में शरीर, रोग या मरण है ही नहीं और शरीर के लक्ष्य से रागादिभाव हों, वह भी आत्मा के स्वरूप में नहीं। क्षणिक जन्म-मरण या रागादिभाव को आत्मा का स्वरूप माने, उसे आत्मा के धर्म की खबर नहीं है। जन्म-मरणादिरहित

जो त्रिकाली आत्मस्वभाव है, उसकी प्रतीति करने से उसके आश्रय से निर्मलपर्याय प्रगट होती है और विकार टलता है, अर्थात् जन्म-मरणादि टलकर मुक्तदशा प्रगट होती है।

जीव को चार गति में भवभ्रमण या जन्म-मरणादि नहीं तथा चार गति सम्बन्धी कुल या योनि के कोई प्रकार भी जीव को नहीं है—ऐसा सूत्रकार कहते हैं। पुद्गल स्वयं जीव के जिस शरीररूप परिणमता है, उस शरीर के आकारादि को कुल कहा जाता है; जिसके आकारादि की रचना समरूप हो, उसे एक कुल कहा जाता है, आकारादि की भिन्नता से कुल के अनेक भेद पड़ते हैं। जैसे कि पंचेन्द्रिय तिर्यंचों में शरीर के आकारादि के भेद से हाथी, घोड़ा, गाय इत्यादि भेद हैं, उसे कुल के प्रकार कहा जा सकता है। एक सौ साढ़े सत्तानवें लक्ष कोटि (१९७५००००००,०००००) प्रकार के कुल हैं; (ये प्रकार आगे कहे जायेंगे।) यह सब भेद वास्तव में जड़ के हैं; कुल के कोई भेद भगवान आत्मस्वभाव में नहीं और उस कुल में उत्पत्ति के कारणरूप विकार भी शुद्धस्वभाव में नहीं। आत्मा अपने स्वभाव को छोड़कर कोई कुल में कभी उपजा ही नहीं। आत्मा तो सिद्ध भगवान के कुल का है, सिद्ध के कुल में उपजे, ऐसा आत्मा का स्वरूप; इसके अतिरिक्त संसार का कोई कुल आत्मा को नहीं है।

योनि अर्थात् चार गति में जीव के उत्पत्ति स्थान, जिसके वर्ण-गन्ध-रस और स्पर्श समान हों, उसका नाम एक उत्पत्तिस्थान है, ऐसे उत्पत्तिस्थान चौरासी लाख प्रकार के हैं। (ये प्रकार आगे कहे जायेंगे)। यह सब भेद जड़ के हैं। शुद्ध आत्मा वास्तव में चौरासी लाख जीव योनि में उपजता नहीं। अपने शुद्धात्मा को भूलकर, पर्यायदृष्टि से विकार तथा शरीर को अपना मानकर जीव चौरासी लाख योनि में भटकता है, परन्तु यहाँ आचार्य भगवान स्वभावदृष्टि की बात करते हैं। स्वभावदृष्टि से चौरासी लाख योनि में भटकने के कारणरूप विकार आत्मा में है ही नहीं, इसलिए आत्मा को चौरासी लाख योनि नहीं। यह बात सिद्धदशा की नहीं परन्तु सब आत्माओं के स्वभाव की है। संसारदशा में रहे हुए आत्माओं का स्वभाव भी कुल और योनिरहित शुद्ध परमात्मस्वरूप है। पर्याय में जो क्षणिक विकार है, उतना जीव का स्वरूप नहीं, परन्तु उस विकाररहित शुद्धस्वभाव त्रिकाल एकरूप, सब जीवों का है, ऐसे स्वभाव को पहिचाने बिना कभी

चौरासी के अवतार में भटकने का मिटेगा नहीं।

जैसे कितने ही चीवड़ा की ककड़ी अन्दर में तो मीठी होती है परन्तु उसकी ऊपर की छाल कड़वी होती है, वहाँ तो लोग समझते हैं कि पूरी ककड़ी कड़वी नहीं परन्तु ऊपर की छाल ही कड़वी है, अन्दर का पूरा भाग तो मीठा है। उसी प्रकार आत्मा चैतन्य आनन्द का गोला है, उसकी पर्याय में राग-द्वेष-मोहरूपी कड़वाहट है। परन्तु वह ऊपर की छाल जैसे क्षणिक हैं, अन्दर के अखण्डस्वरूप में वे नहीं। ऊपर-ऊपर से देखनेवाले को (अर्थात् कि अवस्थादृष्टि से-संयोगदृष्टि से देखनेवाले को) आत्मा विकारी ही लगता है, अन्तर का निर्मल स्वरूप है, वह उसे दिखता नहीं, परन्तु अन्तर के द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से देखने पर आत्मा का निर्मलस्वरूप विकाररहित है, उसका अनुभव होता है। पर्याय में क्षणिक विकार को देखने से पूरे आत्मा को ही विकारी मान लेना, वह चौरासी के अवतार का मूल है। आत्मा के अन्तरस्वरूप में विकार नहीं तथा कुल या योनि भी नहीं। ऐसे स्वरूप की दृष्टि ही मुक्ति का कारण है। अवस्था में राग-द्वेषादि है, परन्तु वे राग-द्वेषादि मेरा वास्तविक स्वरूप है, ऐसी मान्यता मिथ्यात्व है; त्रिकाली स्वभाव के स्वीकार से वह मिथ्यामान्यता छोड़कर वहाँ धर्मी ऐसा जानता है कि मेरे स्वभाव में कुल या योनि नहीं है और उसके कारणरूप विभाव भी नहीं है।

अब कुल और योनि के प्रकारों की संख्या कहते हैं।

कुल के एक सौ साढ़े सत्तानवें लक्ष कोटि प्रकार कहे थे, वे निम्नानुसार हैं—

पृथ्वीकाय जीवों के.... बाईस लक्ष कोटि।

जलकाय जीवों के..... सात लक्ष कोटि।

अग्निकायिक जीवों के.... तीन लक्ष कोटि।

वायुकायिक जीवों के..... सात लक्ष कोटि।

वनस्पतिकायिक जीवों के.... अट्ठाईस लक्ष कोटि।

दो इन्द्रिय जीवों के.... सात लक्ष कोटि।

त्रीन्द्रिय जीवों के.... आठ लक्ष कोटि।

चतुरिन्द्रिय जीवों के.... नौ लक्ष कोटि।

पंचेन्द्रिय तिर्यंच—जलचर के.... साढ़े बारह लक्ष कोटि।

पंचेन्द्रिय तिर्यंच—नभचर के.... बारह लक्ष कोटि।

पंचेन्द्रिय तिर्यंच—चार पैरवाले के..... दस लक्ष कोटि।

पंचेन्द्रिय तिर्यंच—सर्प इत्यादि के..... नौ लक्ष कोटि।

नारकियों के.... पच्चीस लक्ष कोटि।

मनुष्यों के.... बारह लक्ष कोटि।

देवों के.... छब्बीस लक्ष कोटि।

इस प्रकार सब मिलकर एक सौ साढे सत्तानवे लक्ष कोटि (१९७५००००,०००००००) प्रकार के कुल हैं, वे जीव का स्वरूप नहीं।

जो यथार्थ आत्मस्वरूप समझने की दरकार नहीं करते और तत्त्व का विरोध करते हैं, ऐसे जीव संसार में भटकते-भटकते एकेन्द्रिय होते हैं। आत्मा की स्वतन्त्रता का नकार किया है, इसलिए उनकी अवस्था अत्यन्त हीन होकर एकेन्द्रिय हो गये हैं। कुल और योनि में जन्म-धारण करके अनन्त अवतार में भटकने का मूल कारण अपने शुद्ध आत्मस्वभाव का अज्ञान है; प्रथम आत्मस्वभाव की पहिचान करके सम्यग्ज्ञान प्रगट करना, वही चौरासी लाख योनि और कुल के अवतार मिटाने का उपाय है।

पत्थर, जमीन, जल, अग्नि इत्यादि में एकेन्द्रिय जीव हैं; पृथ्वी ही जीव का शरीर है अर्थात् पृथ्वी को ही शरीररूप से धारण करके जो उपजे हैं, ऐसे जीवों को पृथ्वीकायिक कहा जाता है। इस प्रकार पृथ्वीकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक तथा वनस्पतिकायिक में भी समझना। पत्थर अनेक प्रकार के आते हैं, उन पत्थर के वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श के फेरफार से पृथ्वीकायिक जीवों के कुल के बाईस लक्ष कोटि भेद हैं। उसी प्रकार पानी की एक बूंद में असंख्यात जलकायिक एकेन्द्रिय जीव हैं। पानी ही उनका शरीर है। पानी में दूसरे पंचेन्द्रिय आदि जीव होते हैं, वे जलकायिक नहीं, क्योंकि उनका शरीर पानी का नहीं है; यह तो एकेन्द्रिय जीवों की बात है। पानी के स्पर्श-रस इत्यादि के फेरफार के जलकायिक जीवों के कुल के सात लक्ष कोटि भेद है। अग्नि ही जिनका शरीर है, वे अग्निकायिक हैं। अग्निकायिक जीवों के कुल के तीन

लक्ष्य कोटि भेद हैं। इसी प्रकार वनस्पतिकायिक तथा वायुकायिक इत्यादि में भी यथायोग्य समझ लेन। बाहर में जो पानी, वनस्पति इत्यादि दिखता है, वह तो जड़ है, वह कहीं वनस्पतिकायिक इत्यादि जीव नहीं हैं; जीव तो उनसे भिन्न अरूपी है। वनस्पति इत्यादि तो जड़ शरीर है, वह कहीं जीव नहीं है, परन्तु वह वनस्पति इत्यादि शरीर के संयोग में जीव उत्पन्न हुआ, इसलिए उसे वनस्पतिकायिक इत्यादि कहा जाता है। कहीं जड़ शरीर आत्मा में घुस नहीं गया है और आत्मा जड़ शरीर में घुस नहीं गया है। यह कुल के जितने भेद हैं, वे सब भेद जीव को नहीं है। वे सब भेद जड़शरीर के हैं; जीव तो उनसे भिन्न अरूपी चैतन्यमूर्ति है, उसे कुल या शरीर नहीं है और जिसके कारण ऐसे कुल का संयोग प्राप्त होता है, ऐसे विकारी भाव भी जीव के स्वरूप में नहीं है। चैतन्यमूर्ति जीव और जड़ शरीर दोनों भिन्न-भिन्न हैं, ऐसा नहीं जाननेवाले अज्ञानी तो यह कुल और योनि के प्रकारों को ही जीव समझ लेते हैं तथा शरीर के भेदों को जीव के ही भेद समझ लेते हैं। उसमें जीव और शरीर की एकत्वबुद्धि है, वही संसार परिभ्रमण का मूल है।

अपने मूलस्वरूप को भूलकर क्षणिक विकार को और शरीर को अपना स्वरूप माना है, इस मान्यता में ही भटकने का भाव पड़ा है। यह मान्यता टालकर देखें तो अपना त्रिकाली स्वभाव शुद्ध ही है, उसमें विकार या कुल के कोई प्रकार नहीं है; ऐसे स्वभाव की समझ, वह मोक्ष का मूल है।

योनिमुख के चौरासी लाख प्रकार कहे थे, वे निम्नानुसार हैं:—

पृथ्वीकायिक जीवों के .... सात लाख

जलकायिक जीवों के ... सात लाख

अग्निकायिक जीवों के ..... सात लाख

वायुकायिक जीवों के ..... सात लाख

नित्यनिगोद जीवों के ..... सात लाख

चतुरगतिनिगोद जीवों के ..... सात लाख

वनस्पतिकायिक जीवों के ..... दस लाख

दो इन्द्रिय जीवों के .... दो लाख

त्री इन्द्रिय जीवों के .... दो लाख

चतुरिन्द्रिय जीवों के .... दो लाख

देवों के .... चार लाख

नारकियों के .... चार लाख

तिर्यंच पंचेन्द्रिय के .... चार लाख

मनुष्यों के .... चौदह लाख

इस प्रकार सब मिलकर चौरासी लाख प्रकार के योनि मुख हैं। वह जीव का स्वरूप नहीं है। योनियों की संख्या तो बहुत है, परन्तु उनके प्रकार चौरासी लाख है। जो शरीर दिखता है, वह जड़ है, वह आत्मा में नहीं है। और जिस विकार भाव से चौरासी लाख योनि में अवतार मिलता है, वह विकारभाव आत्मा की क्षणिक अवस्था में होता है, अवस्था में विकार है परन्तु वह त्रिकाली स्वभाव में नहीं है। जो भाव आत्मा में से हट जाये, वह आत्मा का स्वरूप नहीं होता। विकारी भाव तो हट जाता है, इसलिए वह आत्मा का स्वरूप नहीं है। चौरासी के अवतार का मूल कारण मिथ्यात्व है और आत्मा के स्वभाव की पहिचान, वह चौरासी के अवतार को नाश करके मुक्ति का मूल कारण है।

इस प्रकार भगवान शुद्ध आत्मा को चार गति का, चार गति में जन्म-मरणादि का और चार गति सम्बन्धी कुल-योनि के प्रकारों का अभाव बताया। अब, कहते हैं कि उसे कोई जीवस्थान या मार्गणास्थान भी नहीं है।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय, स्थूल एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय, ये सात प्रकार के पर्याप्त तथा अपर्याप्त—ऐसे कुल चौदह भेदों को धारण करनेवाले जीवस्थान हैं; वे सब पर्यायदृष्टि से जीव को है, स्वभावदृष्टि से वे कोई जीव का स्वरूप नहीं है।*

* चौदह जीवस्थान तथा मार्गणास्थान जीव का स्वरूप नहीं है-इस सन्दर्भ में विस्तार से समझने के लिये देखें, समयसार गाथा ५० से ५५ के प्रवचन (समयसार प्रवचन, भाग-३) तत्पश्चात् इन्हीं गाथाओं पर अब समयसार के अठारहवीं बार के प्रवचन भागवत्शास्त्र (शब्दश:) प्रवचनरत्नाकर

(संकलित); पन्द्रहवीं बार के प्रवचन समयसार वैभव तथा उन्नीसवीं बार के प्रवचन समयसारसिद्धि नाम से भी उपलब्ध है जिनका अध्ययन कर इस विषय का विशेष स्पष्टीकरण प्राप्त किया जा सकता। वास्तव में ये सब भेद जड़ के संयोग से हुए हैं। और जीव की पर्याय में एक समय के विकार की वैसी योग्यता है परन्तु जीव के स्वभाव में विकार नहीं है और किसी प्रकार का शरीर भी वह धारण नहीं करता।

और गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञा और आहार जिनके लक्षण हैं, ऐसे चौदह मार्गणास्थान शुद्ध जीव को नहीं है।* चार गति, पाँच इन्द्रिय इत्यादि तथा मति-श्रुतज्ञान इत्यादि पर्यायें, वे जीव का मूलस्वभाव नहीं हैं; यदि वे जीव का मूल स्वभाव हो तो उसका कभी नाश नहीं हो सकता और सिद्धदशा प्रगट नहीं हो सकती। केवलज्ञान भी ज्ञानगुण की एक समय की दशा है, उतना जीव का स्वरूप नहीं है। केवलज्ञान इत्यादि अवस्थाओं के भंगभेद त्रिकाल एकरूप आत्मवस्तु में नहीं है। भंगभेदरहित सदा एकरूप शुद्धात्मा के अनुभव में चौदह मार्गणास्थानों का अभाव है। इसलिए त्रिलोकनाथ भगवान श्री तीर्थंकरदेव कहते हैं कि चौदह मार्गणस्थान-शुद्ध जीव के स्वरूप में नहीं है, वे सब संयोगीभाव हैं, उनका आदर तथा लक्ष्य छोड़कर, असंयोगी निर्मलानन्दी एकरूप आत्मस्वभाव की श्रद्धा-ज्ञान और अनुभव करो। यहाँ शुद्ध आत्मस्वभाव के अनुभव का ही उपदेश है, क्योंकि वही मोक्ष का मार्ग है। इसके अतिरिक्त चौदह मार्गणा इत्यादि के लक्ष्य से पुण्यभाव होता है, वह आत्मा का स्वरूप नहीं है।

प्रश्न—पहले से ही शुद्ध आत्मा की समझ की और उसके अनुभव की बात करते हो, वह बात तो बहुत ऊँची है, परन्तु शुरुआत में कोई सीढ़ी तो चाहिए न?— पहले कुछ पुण्यक्रिया करते-करते ऊँचे चढ़ा जाये?

उत्तर—यह पहली भूमिका की ही बात है। ऊँचे अर्थात् मोक्षदशा में चढ़ने के लिये यही सीढ़ी है। यह बात कहीं केवली प्रभु को समझाने के लिये आचार्यदेव ने नहीं की है, परन्तु जिसे अपने शुद्ध चैतन्यतत्त्व की खबर नहीं और क्षणिकभावों को ही अपना स्वरूप मान रहा है, ऐसे अज्ञानी जिज्ञासु जीवों को समझाते हैं कि तेरा स्वरूप चैतन्यमय एकरूप है। सत् के रास्ते सत् आवे परन्तु असत् के रास्ते सत् नहीं आता।

आत्मा का स्वरूप जैसा है, वैसा जानना, वही सत् का स्वीकार है। सत् समझने का प्रयत्न करते-करते सत् समझ में आता है। परन्तु पुण्य करते-करते समझ में नहीं आता। पुण्य, वह धर्म का सोपान नहीं, परन्तु सच्ची समझ करना, वही धर्म का सोपान है। जैसे घर में एक सीढ़ी भोंयरा में उतरने के लिये हो और दूसरी सीढ़ी मंजिल पर चढ़ने के लिये हो। वहाँ मंजिल पर चढ़ने के लिये भोंयरा की सीढ़ी के सोपान काम नहीं आते। उसी प्रकार आत्मा की समझ वह ऊपर चढ़ने की (सिद्ध होने की) सीढ़ियाँ हैं और पुण्य तो विकार है; पुण्य को आत्मा के धर्म का साधन मानना, वह तो 'भोंयरा की सीढ़ियाँ उतरकर मैं मंजिल में चढ़ता हूँ' ऐसा मानने जैसा है, वह मान्यता मिथ्या है। ऐसा होने पर भी अज्ञानी पुण्य को धर्म मानते है, वहाँ क्या हो?—

'धनी को सूझे तो धांकड़ी में'—एक बार कोई व्यक्ति दर्पण में मुख देखता था, वहाँ उसके पड़ोसी को भी मुख देखने का मन हुआ, परन्तु उसके घर में दर्पण नहीं था, इसलिए उसने काली हंडिया का ढक्कन लेकर उसमें देखने लगा। उस व्यक्ति ने पूछा, भाई! ढक्कन में क्या देखते हो? पड़ोसी ने कहा—मेरा मुख देखता हूँ। उस व्यक्ति ने कहा—परन्तु कहीं ढक्कन में वह मुख दिखता होगा? तब पड़ोसी कहता है—परन्तु मुझे तो दिखता है! वह व्यक्ति कहता है—भाई! ढक्कन में तो कहीं मुख दिखता नहीं, तथापि तुझे सूझता है तो तू जान! धनी को सूझे तो धाकनी में; जैसे ढक्कन में मुख नहीं दिखता, तथापि कोई माने तो क्या हो?

उसी प्रकार पुण्य में धर्म नहीं होता, तथापि अज्ञानी पुण्य को धर्म का कारण मानता है, उसकी यह मिथ्या मान्यता तो वह स्वयं बदले तो बदले। ज्ञानी को व्रत, पूजा, भक्ति इत्यादि का शुभराग हो जाता है, उसे वे धर्म नहीं मानते, वहाँ ज्ञानी को शुभराग होता देखकर अज्ञानी ऐसा मानता है कि इस व्रतादि शुभराग से ज्ञानी को धर्म होता होगा। इसलिए वह स्वयं भी शुभराग करके उसे धर्म मानता है। ज्ञानी उससे कहते हैं कि भाई! पुण्य तो विकार है, उसमें तेरे शुद्ध आत्मा का प्रतिबिम्ब नहीं दिखता, परन्तु स्वच्छ ज्ञान में ही आत्मा ज्ञात होता है। पहले आत्मा की समझ करना, वही धर्म की सच्ची शुरुआत है, वही पहला सोपान है।

यह अपूर्व बात है, ऐसी बात अनन्त काल में जीवों ने अन्तर से सुनी नहीं; अन्तर

से सुने बिना अन्तर विचार जगते नहीं; विचार जगे बिना अन्तर में उसका अपूर्व माहात्म्य समझ में नहीं आता; अन्तर में अपूर्व माहात्म्य आये बिना सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान नहीं होता; सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान बिना चारित्र, केवलज्ञान या मुक्ति नहीं होती और भव का फेरा नहीं टलता। जीव में मार्गणास्थान इत्यादि का अभाव कहकर यहाँ आचार्य भगवान ने परमपारिणामिकभाव का वर्णन किया है, उसकी पहिचान करने से ही सम्यक् श्रद्धा-ज्ञान होते हैं और भव का अन्त आता है—ऐसे शुद्ध निश्चयनय के जोर से भगवान सूत्रकर्ता का अभिप्राय है।

अब इस गाथा के ऊपर टीकाकार चार कलश कहते हैं। उसमें से पहले दो कलश समयसार की टीका में से लिये हैं, उसमें चैतन्यस्वरूप आत्मा का अनुभव करने की प्रेरणा करते हैं।

(मालिनी)

सकलमपि विहायाह्नाय चिच्छक्तिरिक्तं,
स्फुटतरमवगाह्य स्वं च चिच्छक्तिमात्रम्।
इम-मुपरि चरन्तं चारु विश्वस्य साक्षात्,
कलयतु परमात्मात्मान-मात्मन्यनन्तम्॥

(अनुष्टुप्)

चिच्छक्ति-व्याप्त-सर्वस्व-सारो जीव इयानयम्।
अतोऽतिरिक्ताः सर्वेऽपि भावाः पौद्गलिका अमी॥

हे भव्य जीवों! चैतन्यशक्ति से शून्य ऐसे सर्वभावों को छोड़कर प्रगटरूप अपनी चैतन्यमात्र शक्ति में लीन होकर, सम्पूर्ण जगत पर तैरते ऐसे इस अविनाशी परम आत्मा का आत्मा में ही साक्षात् अनुभव करो।

चैतन्य शक्ति से भरपूर जिसका सर्वस्व सार है, ऐसा यह आत्मा इतना ही है, उससे भिन्न जो कोई भाव हैं, वे सब पुद्गल सम्बन्धी हैं।

श्री आचार्यभगवान कहते हैं कि अरे जीव! अनादि से पुण्य, पाप, गति, कुल, योनि इत्यादि विकारीभावों को अपना मानकर उसका अनुभव कर रहा है परन्तु अब उन सर्व भावों को छोड़कर एकरूप चैतन्यस्वभाव में लीन होकर उसका अनुभव कर।

चैतन्य के अनुभव का अभ्यास कर। आत्मा तीन लोक के पदार्थों से भिन्न का भिन्न है। अनादि से विकार किया, तथापि उस विकार से आत्मस्वभाव भिन्न का भिन्न है। जैसे पानी में तेल ऊपर का ऊपर तैरता है, उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव रागादि सर्व भावों के ऊपर का ऊपर तैरता है, चैतन्यस्वभाव रागमय नहीं हो जाता परन्तु उनसे भिन्न का भिन्न है। सभी भव्य जीव ऐसे भगवान आत्मा का अभ्यास करो, उसका ही साक्षात् अनुभव करो।

आत्मा के शुद्धस्वरूप में पुण्य-पाप को या पर को अपने न मानना और विकाररहित शुद्ध चैतन्यस्वरूप का अनुभव करना, यही मोक्षमार्ग है और यही धर्म है। 'मैं परपदार्थों का कुछ भी करूँ अथवा तो पुण्य-पाप इत्यादि मेरा स्वरूप है'—ऐसा मानना, वह अपने त्रिकाली सत्स्वभाव का अनादर है। अपना परिपूर्ण चैतन्यस्वभाव विकाररहित है, उसे न मानकर, क्षणिक विकार जितना माना, उसमें अपने चैतन्यस्वभाव की हिंसा है और वह हिंसा अनन्त जन्म-मरण का कारण है। लोग बाहर में परजीव मरें, उसे हिंसा गिनते हैं और उसके त्याग को धर्म मान लेते हैं परन्तु उल्टी मान्यता से अपने पूरे आत्मा की हिंसा होती है, उसका महापाप है, वह हिंसा का पाप जगत को नहीं दिखता और अपने आत्मस्वभाव की उल्टी मान्यता छोड़े बिना कभी हिंसा का महापाप टलता नहीं और धर्म होता नहीं।

आत्मा तो चैतन्यशक्ति से भरपूर है, कोई पुण्य-पाप इत्यादि भाव आत्मा में भरे नहीं हैं। पूर्व में जो गति, मार्गणा इत्यादि भाव कहे, वे सब चैतन्यशक्ति से खाली हैं। सदा ज्ञान-आनन्द से भरपूर एकरूप स्वभाव है, वही सर्व का सार है, इसके अतिरिक्त दूसरे जितने भाव हैं, वे सब सारभूत नहीं, वे आत्मा का स्वरूप नहीं। इसीलिए उन सब भावों को छोड़कर अकेले जाननहार स्वभाव से भरपूर आत्मा में प्रवेश कर और उसका अनुभव कर, ऐसा यहाँ उपदेश है।

अब तीसरे कलश में आत्मस्वरूप की भावना का फल बताकर उसकी प्रेरणा करते हैं:—

(मालिनी)

अनवरतमखण्डज्ञानसद्भावनात्मा,
व्रजति न च विकल्पं सन्सृतेर्घोररूपम्।
अतुलमनघमात्मा निर्विकल्पः समाधिः,
पर-परिणति-दूरं याति चिन्मात्र-मेषः।।६०।।

यदि यह आत्मा निरन्तर अपने अखण्ड ज्ञानस्वरूप की भावना करे तो भयानक संसार सम्बन्धी विकल्पों को नष्ट करता है और निर्विकल्प समाधि को प्राप्त कर परपरिणति से दूर, अतुल और पवित्र सत्तामात्र आत्मा को प्राप्त करता है।

अपना शुद्ध आत्मस्वभाव ज्ञानस्वरूप है, उसकी भावना करना, वही मोक्ष का उपाय है। मैं पर का करूँ या पर को छोड़ूँ, ऐसी भावना तो अधर्म है और पुण्य-पाप के भाव मैं करूँ, ऐसी भावना भी अधर्म है। आत्मा अखण्ड ज्ञानस्वरूप है, उसमें पुण्य-पाप है ही नहीं। अखण्ड ज्ञानस्वरूप को छोड़कर खण्ड-खण्ड ज्ञान की भावना करना, वह भी पर्यायदृष्टि है और राग का ही कारण है। जैसे देवदार इत्यादि लकड़ियों के बीच में गोल गाँठ होती है, वह गाँठ का भाग लकड़ी से भिन्न है, लकड़ी पोंची होती है और गाँठ कठिन होती है, दोनों का परिणमन अलग है; उसी प्रकार आत्मा ज्ञान-आनन्दस्वरूप है, उसकी अवस्था में क्षणिक पुण्य-पाप होते हैं, वे गाँठ की भाँति भिन्न हैं; त्रिकाली स्वभाव से उनका परिणमन वास्तव में भिन्न है, इसलिए स्वभाव की भावना द्वारा वे पृथक् पड़ जाते हैं।

ज्ञानी निरन्तर अखण्ड ज्ञानस्वभाव की ही भावना करते हैं। अवस्था के भेद और पुण्य-पाप को जानते हैं परन्तु उनकी भावना कभी नहीं करते। आत्मा ज्ञायक है, वह पर से तो अत्यन्त भिन्न और पुण्य-पाप भी उसके स्वरूप में नहीं। पुण्य-पाप वह मैं, पुण्य से मुझे लाभ होता है, मैं पर का कुछ करूँ—ऐसे जो मिथ्या विकल्प, वे घोर संसार का कारण है। 'मैं आत्मा अखण्ड ज्ञायकस्वरूप हूँ' ऐसी भावना से वे विकल्प नष्ट हो जाते हैं और निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति होती हैं। निर्विकल्प समाधि अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र; सम्यग्दर्शन निर्विकल्प है, सम्यग्ज्ञान भी निर्विकल्प है और सम्यक्चारित्र भी निर्विकल्प है, ये तीनों वास्तव में वीतराग ही हैं। परम शुद्ध आत्मा की भावना से ही

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होते हैं, इसलिए उसकी भावना ही मोक्ष का कारण है।

रागादि भाव आत्मा के शुद्धस्वरूप से भिन्न हैं, इसलिए वे परपरिणति हैं। स्वभावदृष्टि से आत्मा उन रागादि भावरूप नहीं परिणमता, इसलिए वह राग परपरिणमन है। आत्मा का परिणमन उससे दूर है। आत्मा परमचैतन्यमूर्ति देवाधिदेव दिव्यशक्ति का धनी है, अवस्था में जो विकार और चौरासी के अवतार हुए हैं, उसमें वह एकमेक नहीं हो गया, परन्तु भिन्न ही है। ऐसे पृथक् आनन्दकन्दस्वभाव का सत्समागम से श्रवण-मन्थन करके उसकी पहिचान, श्रद्धा और अनुभव करना, वह चौरासी के अवतार का नाश करके मोक्ष प्राप्त करने का उपाय है। आत्मा की अवस्था में राग-द्वेष-क्रोधादि विकार होते हैं, वे तुच्छ हैं, चार गति और चौदह मार्गणा इत्यादि भाव तुच्छ और क्षणिक हैं, आत्मा का अखण्ड ज्ञानस्वभाव अतुल है, किसी परपदार्थ द्वारा, विकार द्वारा या क्षणिक पर्याय द्वारा उसकी महिमा की तुलना—माप नहीं हो सकता। अपने स्वभाव की अतुल महिमा है, उसे भूलकर, 'मैं पुण्यवाला हूँ, मैंने पुण्य किया', ऐसा अज्ञानी पुण्य से अपनी महिमा करता है। आत्मा में अनन्त महिमा को पहिचानकर उसकी भावना करना, वही मोक्षमार्ग है। पुण्य और पाप दोनों दोष हैं, अपवित्र हैं। आत्मा का ज्ञानस्वभाव पवित्र है। आत्मा के पवित्र स्वभाव की त्रिकाल सत्ता में विकार नहीं है, ऐसे आत्मस्वभाव की भावना द्वारा ही उसकी प्राप्ति होती है। अखण्ड ज्ञायक पवित्र आत्मा की भावना मोक्ष का कारण है। पहले यथार्थ श्रवण-मनन द्वारा ऐसे स्वभाव का बराबर निर्णय करना चाहिए।

★★★★★

व्याख्यान नं. ३२, वीर संवत् २४७०, ज्येष्ठ कृष्ण अमावस्या, सोमवार

(गाथा ४२ चालू)

परमपारिणामिक आत्मस्वभाव ही सर्व जीवों को उपादेय है, इसके अतिरिक्त दूसरे भाव हेय हैं, उसका यह वर्णन चलता है। ऐसे स्वभाव को पहिचानकर उसका आदर करने से ही जीव को धर्म होता है। आत्मा के स्वभाव में जन्म-जरा-मरण नहीं है, चार गति का भ्रमण नहीं है, चार गति में भ्रमण का कारण, वह विकार है, वह भी आत्मस्वभाव में नहीं है। वे सब भाव विकारी और क्षणिक हैं, उन मात्र क्षणिक भावों को अपना स्वरूप मानकर जीव अनादि काल से संसार में भटक रहा है। उन क्षणिक भावों की दृष्टि छोड़कर आत्मा के त्रिकाली स्वभाव को लक्ष्य में लें तो उसमें संसार नहीं, जन्म-मरण नहीं। ऐसे स्वभाव को पहिचानकर उसकी भावना करने से ही मुक्ति होती है—यह बात ४२ वीं गाथा में तथा उसके ऊपर के तीन कलशों में कही गयी है। अब चौथे कलश में कहते हैं कि श्री महावीर भगवान ने यही उपदेश किया है और यह उपदेश पाकर सन्त पुरुष मुक्त होते हैं:—

(स्रग्धरा)

इत्थं बुद्ध्वोपदेशं जननमृतिहरं यं जरानाशहेतुं,
भक्तिप्रह्वामरेन्द्रप्रकटमुकुटसद्रत्नमालार्चिताङ्घ्रेः।
वीरात्तीर्थाधिनाथाद्दुरितमलकुलध्वान्तविध्वन्सदक्षं,
एते सन्तो भवाब्धेरपरतटममी यान्ति सच्छीलपोताः ।।६१।।

इस प्रकार, जिनके चरण-कमल भक्ति भरपूर इन्द्रों के मुकुट की सच्ची रत्नमाला से पूजनीय हैं, ऐसे श्री वीरनाथ तीर्थंकरदेव का उपदेश-जो कि दूरित पापरूपी अन्धकार को नष्ट करने में प्रवीण है तथा जन्म-जरा-मरण का नाश करनेवाला है, उसे समझकर सत्य और शील के जहाज समान सन्त पुरुष इस भवसमुद्र के सामने किनारे पहुँच जाते हैं अर्थात् मुक्ति पाते हैं।

श्री आचार्यदेव ने शुद्धात्मस्वभाव का अलौकिक रीति से वर्णन किया है, उसमें भगवान महावीर की साक्षी देकर कहते हैं कि तीर्थनायक महावीर भगवान ने भी यही

उपदेश किया था। ऐसा शुद्धात्मा का उपदेश ही मिथ्यात्व इत्यादि पापरूपी अन्धकार का नाश करने में समर्थ है। सर्व पाप के कुल का मूल मिथ्यात्व ही है। शुभराग आत्मा के स्वभाव में नहीं है, इसलिए वह भी पाप के कुल में जाता है। आत्मा का स्वभाव त्रिकाल शुद्ध है, उसमें अज्ञान या पुण्य-पाप नहीं है। जिसका नाश किया जाता है, वह आत्मा के त्रिकाल स्वभाव में नहीं है। आत्मा के स्वभाव में पुण्य-पाप हो तो उसका नाश नहीं हो सकता। आत्मा का स्वभाव तो विकार का नाशक है अर्थात् कि उस स्वभाव के आश्रय से विकार का नाश हो जाता है।

जड़कर्म की बात तो दूर रहो, परन्तु पुण्य-पाप रहित मैं वीतराग चैतन्यमूर्ति हूँ; पूरा संसार वह पाप है; जिस पुण्य से स्वर्ग मिले, वह पुण्य भी पाप ही है क्योंकि वह भी आत्मगुण का घातक है। आत्मा के गुण का घात करे, वह सब पाप ही है। वह पुण्य-पाप मेरे स्वभाव में नहीं हैं। सिद्ध भगवान को रागादि नहीं। स्वभाव में जो नहीं था, वह दूर हुआ और स्वभाव में था, वह रह गया; इसलिए पुण्य-पाप मेरा स्वभाव नहीं। मेरा आत्मा तो ज्ञाता-दृष्टा आनन्दघन, अरागी-अद्वेषी है—ऐसा शुद्धात्मा का उपदेश पापरूपी अन्धकार का नाश करने में प्रवीण है।

मैं विकारी हूँ, मैं पर के आश्रयवाला हूँ—इस प्रकार अज्ञानी को अनादि से मिथ्यात्वरूपी पाप के कुल की परम्परा चली आती है, उसका नाश करनेवाला शुद्धात्मा का प्रवीण उपदेश श्री महावीर तीर्थंकरदेव ने दिया है। क्या उपदेश दिया? कि राजपाट इत्यादि संयोग तो राग-द्वेष का फल है, वे राग-द्वेष आत्मा का स्वभाव नहीं; आत्मा तो परमपारिणामिक चैतन्यस्वभाववाला है—ऐसा शुद्धात्मतत्त्व का उपदेश महावीर भगवान ने दिया है। वह उपदेश समझकर शुद्धात्मा में एकाग्रतारूपी नौका द्वारा भव्य जीव संसार का पार पा जाते हैं। इसके अतिरिक्त संसार से पार उतरने का दूसरा उपाय नहीं है।

यद्यपि शुद्धात्मतत्त्व का उपदेश तो सभी तीर्थंकर भगवन्तों ने एक सरीखा दिया है, परन्तु उसमें नजदीक में हो गये और वर्तमान प्रवर्तित शासन के नायक श्री महावीर भगवान होने से आचार्यदेव ने उनका नाम लेकर बात की है। कैसे हैं वे वीतरागी महावीर परमात्मा?—कि जिनके चरणकमल भक्ति भरपूर इन्द्रों के मुकुटों की सच्ची रत्नमाला से पूजनीय है। इन्द्रों की रत्नमाला शाश्वत् होती है। भगवान के आत्मा में तो

केवलज्ञानादि अनन्त चैतन्य रत्न शाश्वत् रूप से प्रगट हुए हैं और सामने भक्ति करनेवाले इन्द्र भी शाश्वत् रत्नमाला से पूजते हैं। उन महावीर भगवान ने ऐसा उपदेश दिया कि सभी आत्मा परिपूर्ण हैं, जैसा मैं, वैसा ही तू है, मेरे और तेरे स्वभाव में कोई अन्तर नहीं है। स्वभाव को भूलकर तूने ऐसा माना है कि रागादि मेरा स्वरूप है, वह मिथ्यामान्यता ही संसार का मूलकारण है। 'मैं भगवान जैसा परिपूर्ण नहीं परन्तु मैं विकारी और अधूरा हूँ'—ऐसा मानकर मेरे और तेरे आत्मा के बीच तूने अन्तर किया, इसीलिए संसार है। भगवान के और अपने आत्मा के बीच श्रद्धा में अन्तर माने, वह भगवान कहाँ से होगा? मैं भगवान जैसा नहीं परन्तु मैं तो विकारी-पामर, ऐसा मानता है, वह भी स्वभाव से तो स्वयं भगवान जैसा ही है। ऐसा विश्वास नहीं करता, वही संसार का कारण है। इस प्रकार महावीर भगवान ने शुद्धात्मा का ही उपदेश दिया। उस उपदेश से शुद्धात्मा को समझे तो संसार का नाश होकर मुक्ति हुए बिना नहीं रहे। ऐसा शुद्धात्मा का उपदेश पाकर सन्त भव पार हो जाते हैं।

भगवान महावीर का ऐसा उपदेश है कि "हे जीव! तू क्षणिक विकार जितना या अधूरा ही नहीं, इसलिए 'रागादि मेरे' ऐसी मान्यता छोड़ दे। तेरा स्वभाव तो सिद्ध भगवान जैसा परिपूर्ण है, उसे पहिचान और संसार के विकल्पों को दूर करके वैसे आत्मा का अनुभव कर। शुद्ध आत्मा के आनन्द के अनुभव बिना मुक्ति नहीं है।" ऐसे उपदेश को मानकर तत्प्रमाण चलनेवाले जीव अवश्य मुक्ति के भागी होते हैं। मुक्तदशा में आत्मा अपने स्वभाव के परम आनन्द को ही भोगता है। यहाँ संसार में भी कोई जीव शरीर-पैसा इत्यादि परवस्तु को नहीं भोगता। मात्र राग-द्वेष से आकुलता को भोगता है और राग-द्वेषरहित शुद्धात्मस्वभाव का भान करके मुक्त होता है। वे जीव मुक्तदशा में आत्मा के निर्विकारी आनन्द को सादि-अनन्त काल तक भोगते हैं।

यहाँ ४२वीं गाथा पूरी हुई।

★★★★★